तन्त्र कल्पतरु

सम्पादक
'कुलभूषण' पण्डित रमादत्त शुक्ल, एम० ए०

प्रकाशक
पं० देवीदत्त शुक्ल स्मारक
शाक्त साधना पीठ
प्रयाग-६
अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग—६

तन्त्र-कल्पतरु

सम्पादक

'कुलभूषण' पं० रमादत्त शुक्ल, एम० ए०

चौखम्भा विश्वभारती
प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता
पोस्ट बाक्स नं० १०८४
चौक (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१

प्रकाशक

पं० देवीदत्त शुक्ल स्मारक

शाक्त साधना पीठ

प्रयाग-६

प्रथम संस्करण] कार्तिक पूर्णिमा [सम्वत् २०३५

Rs - 8 P 00

प्रकाशक

शाक्त-साधना-पीठ

अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग-६

प्राप्ति-स्थान

शाक्त-साधना-पीठ

कल्याण मन्दिर (धार्मिक पुस्तकों के प्रकाशक विक्रेता)

अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग-६

मुद्रक

परा'वाणी प्रेस

अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग-६

अनुक्रमणिका

१ प्राक्कथन : सम्पादक क

२ तन्त्र-शास्त्र : 'शक्ति-वत्सल' श्री बस्तीमल माथुर, जोधपुर १

३ तन्त्र-विवेचन : 'दरभङ्गा-राजवंश-सम्भूत' श्री श्यामानन्द जी ९

४ तन्त्र : श्रीयुत भूपेन्द्रनाथ बन्द्योपाध्याय २१

५ तन्त्रशास्त्र और वेद : श्रीयुत ब्रजलाल मुखर्जी, एम० ए० २६

६ तन्त्रशास्त्र की विशेषता : श्रीयुत नरेन्द्रनाथ जी शर्मा चौधरी, एम० ए० ३०

७ तन्त्र-पद्धति एवं स्मृति-शास्त्र : श्रीयुत निशीथकुमार राय, बी० ए० ३४

८ वेद और तन्त्र-धर्म : 'कौल-कल्पतरु' पं० देवीदत्त शुक्ल ३५

९ आगम-प्रामाण्य : श्रीयुत गुणराव हरकारे ३७

१० तन्त्र-साहित्य : श्रीयुत भद्रशील शर्मा, एम० ए० ४३

११ अनमोल विचार : महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ कविराज ४६, ६२

१२ तन्त्र की भावना : 'कौल-कल्पतरु' पं० देवीदत्त शुक्ल ४७

१३ तन्त्र-मत में साधना की उपयोगिता : 'कुलभूषण' पं० रमादत्त शुक्ल, एम० ए० ५२

१४ तान्त्रिक वाङ्मय का गौरव : 'कौलाचार्य' पं० नथमल दाधीच ५८

१५ तन्त्र : 'कुलभूषण' पण्डित रमादत्त शुक्ल, एम० ए० ६३
('तन्त्र'-शब्द की व्युत्पत्ति, 'तन्त्र'-शब्द का व्यापक अर्थ, शिवादि-प्रोक्त तन्त्र, उप-तन्त्र, तन्त्र-शास्त्र के विभाग, आगम, निगम, विभिन्न सम्प्रदायों के आगम, सदसदागम, वैदिक अवैदिक आगम, आगम के तोन विभाग, यामल, डामर, तन्त्र के अन्य प्रकार विभाग, पञ्चाम्नाय, शिव के पञ्च-मुख, भावानुसार आम्नाय, पञ्च-मुखोद्भूत प्रधान तन्त्र, पञ्चाम्नाय आगम, षडाम्नाय, आम्नाय-भेद से विभिन्न देवता, सम्प्रदायानुसार तन्त्र के विभाग, भौगोलिक संस्थान के अनुसार तन्त्र-विभाग, स्रोत अनुसार तन्त्र के विभाग, विभिन्न प्रकार के बहुतन्त्र, तन्त्र और वेद, वेद-बाह्य तन्त्र भी प्रामाण्य शास्त्र, तन्त्र वेद-भ्रष्टों के लिए, वेद और तन्त्र का पार्थक्य, तन्त्र में प्रणव, तान्त्रिक गायत्री, तान्त्रिक क्रिया में वैदिक मन्त्र, वैदिक याग-यज्ञ की तान्त्रिक क्रिया-कर्म से समानता, कलियुग में प्रशस्त तन्त्र-मत वेदों के सार, तन्त्र को अवतारणा, तन्त्रशास्त्र के अधिकारी, तन्त्र साधना-शास्त्र, वैज्ञानिक युगोपयोगी शास्त्र)...

प्राक्कथन

'तन्त्र'-साहित्य के रूप में युग-युग की अनुभूत जिस बहुमुखी आध्यात्मिक साधना का विराट् स्वरूप हृदयङ्गम करने का सौभाग्य प्राप्त होता है, उससे प्रेरित होकर सन्मार्ग ग्रहण करनेवाले व्यक्ति को सभी ऐहिक और पारलौकिक कामनाएँ निश्चय ही पूर्ण होती हैं। अतः 'तन्त्र-कल्पतरु' नाम सर्वथा सार्थक है। कल्पतरु या कल्पवृक्ष वह दिव्य तरु है, जिससे जिस फल की कामना की जाती है, वही फल प्रार्थी को प्राप्त होता है। इसी प्रकार जो जिस कामना से 'तन्त्र'-साहित्य का अध्ययन करता है, वह उस कामना की सहज पूर्ति का उपाय पा जाता है।

भारतीय वाङ्मय में 'तन्त्र' का अपना विशेष स्थान रहा है। मेरु-तन्त्र के मत से तन्त्र वेदाङ्ग है। उसमें लिखा है कि प्रणव को छोड़कर वेद नहीं हैं। मन्त्र वेद से निकले हैं। अतः मन्त्र वेद-परक हैं। आगम को वेदाङ्ग कहा है। आगम या तन्त्र मन्त्र-शास्त्र है। मन्त्र वेद-परक हैं। अतएव आगम या तन्त्र वेदाङ्ग हैं।

निरुतर तन्त्र में आगम या तन्त्र को स्पष्टतः पञ्चम वेद कहा है—**आगमः पञ्चमो वेदः कौलस्तु पञ्चमाश्रमः।**

कुलार्णव तन्त्र में कौल आगमों या तन्त्रों को वेद-सम्मत शास्त्र बताया है—**तस्मात् वेदात्मकं शास्त्रं विद्धि कौलागमं प्रिये!**

तन्त्र भी श्रुति हैं। महर्षि हारीत ने कहा है कि श्रुति दो प्रकार की है—१ वैदिक और २ तान्त्रिक—**श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च।**

वर्तमान कलियुग के लोगों के लिए आगम या तन्त्र में उपदिष्ट उपासना ही प्रशस्त मानी गई है। आचार्य शङ्कर ने 'प्रपञ्चसार' में स्पष्ट घोषणा की है कि—

श्रुत्युक्तस्तु कृते धर्मस्त्रेतायां स्मृति-सम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावागम-सम्भवः॥

अर्थात् सत्ययुग में वेदों में उपदिष्ट यज्ञ-यागादिक, त्रेता-युग में स्मृतियों में वर्णित पूजा-पद्धति, द्वापर-युग में पुराणों में कथित उपासना-विधि और कलि-युग में आगम (तन्त्र) में बताई गई साधना-प्रणाली के अनुसार कार्य करने से अभीष्ट फल मिलता है'।

महा-निर्वाण तन्त्र के द्वितीय उल्लास में श्रीसदाशिव ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है—

यथा-तत्वं यथा-न्यायं यथा-योग्यं न संशयः ।
कलि-कल्मष-दीनानां द्विजादीनां सुरेश्वरि ॥ ५ ॥
मेध्यामेध्याविचाराणां न शुद्धिः श्रौत-कर्मणा ।
न संहिताद्यैः स्मृतिभिरिष्ट-सिद्धिर्नृणां भवेत् ॥ ६ ॥
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यं सत्यं मयोच्यते ।
विना ह्यागम-मार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये ॥ ७ ॥
श्रुति-स्मृति-पुराणादौ मयैवोक्तं पुरा शिवे ।
आगमोक्त-विधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः ॥ ८ ॥
कलावागममुल्लंघ्य योऽन्य-मार्गे प्रवर्तते ।
न तस्य गतिरस्तीति सत्यं सत्यं न संशयः ॥ ९ ॥

अर्थात् कलियुग के पाप से द्विज आदि मानव-जातियाँ दीन-हीन होकर मेध्य-अमेध्य का विचार न कर पायेंगी और उनकी शुद्धि श्रौत (श्रुतियों में कथित) कर्मों द्वारा न हो सकेगी । संहिताओं और स्मृतियों की विधियों से उनकी इष्ट-कामनाएँ पूर्ण नहीं होंगी । अतः यह सर्वथा सत्य है कि कलियुग में आगम (तन्त्र) में उपदिष्ट मार्ग के सिवा अन्य कोई उपयोगी मार्ग नहीं है । श्रुतियों, स्मृतियों और पुराणों आदि में मैंने ही पहले से कहा है कि कलियुग में आगम (तन्त्र) में निर्दिष्ट विधि से देवताओं का पूजन करना चाहिए । जो कलियुग में आगम (तन्त्र) को छोड़कर अन्य मार्ग का सहारा लेता है, उसे सफलता नहीं मिलती, इसमें सन्देह नहीं ।

कलियुग में 'तन्त्र' के इस महत्व का कारण बताते हुए वहीं यह उद्घोषणा की है कि—

कलौ तन्त्रोदिता मन्त्राः सिद्धास्तूर्ण-फल-प्रदाः ।
शस्ताः कर्मसु सर्वेषु जप-यज्ञ-क्रियादिषु ॥ १४ ॥
निर्वीर्याः श्रौत-जातीया विष-हीनोरगा इव ।
सत्यादौ सफला आसन् कलौ ते मृतका इव ॥ १५ ॥

अर्थात् कलियुग में 'तन्त्र' में कथित मन्त्र ही सिद्ध हैं और शीघ्र फल-दायक हैं । वे ही जप-यज्ञ-क्रियादिक सभी कार्यों में प्रशस्त हैं क्योंकि श्रौत (श्रुतियों में कथित) मन्त्र सत्ययुग आदि में हो फलीभूत होते थे, कलियुग में वे मृत-प्राय और विष-हीन सर्पों के समान शक्ति-हीन होते हैं ।

'कामिकागम' में 'तन्त्र'-शब्द का अर्थ इस प्रकार समझाया है—

तनोति विपुलानर्थान् तन्त्र-मन्त्र-समन्वितान् ।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

अर्थात् तन्त्र-मन्त्र से युक्त विपुल अर्थों को विस्तार से स्पष्ट करता है और साधकों की रक्षा करता है। इसी से इसे 'तन्त्र' कहते हैं।

वेदों के ही समान 'तन्त्र' या आगम' को मान्यता रही है। इस सम्बन्ध में कुछ शास्त्रोक्तियाँ यहाँ उद्धृत हैं—

वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत् ॥ ७ ॥ (श्रीमद्-भागवत ११।२७)
यात्रा-बलि-विधानं च सर्व-वार्षिक-पर्वसु ।
वैदिकी तान्त्रिकी दीक्षा मदीय-व्रत-धारणम् ॥३७॥ (श्रीमद्-भागवत ११।११)
वैदिकस्तान्त्रिको मिश्रः श्रीविष्णोस्त्रिविधो मखः ।
त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना हरिमर्चयेत् ॥ ७० ॥ (पद्म-पुराण ५।८५)
श्रुति-प्रमाणको धर्मः । श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च ।(मनु-स्मृति २।१)
समस्त-शास्त्राणां तन्त्र-शास्त्रमनुत्तमम्,
सर्व-काम-प्रदं पुण्यं तन्त्रं वै वेद-सम्मतम् । (मत्स्य-सूक्त)

इस प्रकार के बहुत से प्रमाण मिलते हैं, जो 'तन्त्र' को 'वेद' के समान ही महत्व देते हैं। फिर भी कुछ तन्त्रों के सम्बन्ध में ऐसी मान्यता नहीं है।

अतः 'तन्त्र' मात्र को श्रुति या वेद-वत् माननीय सभी लोग नहीं मानते क्योंकि अनेक तन्त्र अवैदिक हैं। भास्कर राय ने कहा है कि कामिकादि अट्ठाइस शैव-तन्त्र वेदानुयायी हैं और कपाल-भैरवादि तन्त्र वेद-विरुद्ध हैं—**अथवा सन्ति वेदानुयायिनी शैव-तन्त्राणि कामिकादीन्यष्ट-विंशतिः वेद-विरुद्धानि कापाल-भैरवादीनि च ।**

वेद-विरुद्ध तन्त्रों के सम्बन्ध में विभिन्न सम्प्रदायों में मतभेद है। भास्कर राय ने वामकेश्वर तन्त्र के प्रथम विश्राम में कथित चौसठ कुल-तन्त्रों को वेदानुयायी बताया है किन्तु लक्ष्मीधर ने इन्हें वेद-बाह्य कहा है—**एतानि तन्त्राणि जगतां अति-सन्धान-कारणानि विनाश-हेतु-भूतानि, वैदिक-मार्ग-दूर-वर्तित्वात् ।**

तथापि अधिकांश 'तन्त्र' पुनीत वेदों के समान मान्य तो हैं ही; साथ ही उनमें वह सब विधान भी सम्मिलित है, जो वेदों में नहीं है। इससे 'तन्त्र' की सार्वभौमता प्रतिपादित होती है।

ऋषियों की भविष्यवाणी के अनुसार वर्तमान कलियुग के समय में 'तन्त्र' को

अपने आप मान्यता मिलती जा रही है। न केवल भारत में अपितु योरप, अमरीका आदि विदेशों में भी 'तन्त्र' के प्रति गहरी रुचि जाग्रत् हो रही है और उसके साहित्य का अध्ययन सर्वत्र गम्भीरता के साथ किया जा रहा है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि तन्त्र' का वास्तविक अध्ययन कोरी बौद्धिकता से सम्भव नहीं है। अध्ययन-कर्ता में आस्तिकता, श्रद्धा और भक्ति-भावना का होना आवश्यक है। अन्यथा अर्थ का अनर्थ करना स्वाभाविक है। प्रायः ऐसे अनधिकारी विद्वानों द्वारा 'तन्त्र' के सिद्धान्तों की विकृत व्याख्या की जाती रही है और इस प्रकार की व्याख्या के दूषित प्रभाव से बचने के लिए 'तन्त्र' की शास्त्र-सम्मत व्याख्या का उपलब्ध होना बहुत आवश्यक है। हर्ष की बात है कि समय-समय पर अपने समय के कतिपय धुरन्धर साधक विद्वानों ने 'तन्त्र' की ऐसी व्याख्याएँ अपनी व्यक्तिगत विविध शैलियों में की हैं। लोकोपकार की दृष्टि से उन्हें एकत्र कर संग्रह-रूप में प्रकाशित किया जाना कितना वाञ्छनीय है, यह लिखने की आवश्यकता नहीं है।

प्रस्तुत संग्रह की अनुक्रमणिका को ध्यान से देखने से ही ज्ञात हो जाता है कि इसमें संग्रहीत लेखों द्वारा 'तन्त्र' की विविध विशेषताओं पर कितने विस्तार के साथ विचार किया गया है। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि इसमें 'तन्त्र' के सभी पक्षों का स्पष्टीकरण हो गया है। तथापि इससे 'तन्त्र' के सार्वजनीन कल्याणकारी स्वरूप को हृदयङ्गम करने में जिज्ञासुओं को पर्याप्त सहायता मिलेगी, ऐसी हमें आशा है। यदि ऐसा हुआ, तो हम अपने इस प्रयास को सार्थक समझेंगे।

कार्तिक अमावस्या, २०३५ —सम्पादक

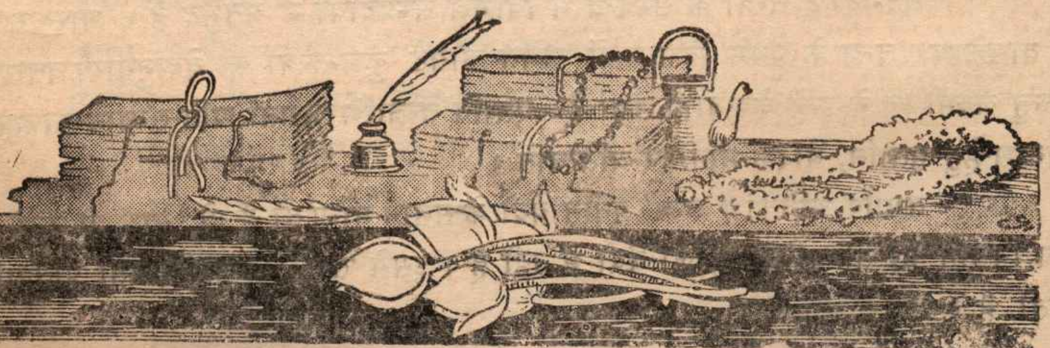

तन्त्र-शास्त्र

वेद के सदृश तन्त्र-शास्त्र भी बहुत ही विस्तृत हैं। तन्त्र-शास्त्रों की विशेषता यह है कि तन्त्रों में वेद की संहिता, ब्राह्मण और उपनिषद्-भाग का रहस्य और स्मृति आदि शास्त्रों का विस्तार अधिक मिलता है। इसी कारण तन्त्रों की संख्या सबसे अधिक कही गई है। तन्त्रों में कहा है—

सप्त-सप्त-सहस्राणि संख्यातानि मनीषिभिः।

इस हिसाब से १४,००० तन्त्र-ग्रन्थों का प्रचलित होना समझा जाता है। यद्यपि वेद के समान तन्त्र-ग्रन्थों का भी इस समय सहस्रांश भी नहीं मिलता परन्तु अब भी अनेक तन्त्र-ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

तन्त्र-शास्त्रों के लक्षणों के विषय में हमारे पूज्यपाद महर्षियों ने शास्त्रों में जो वर्णन किया है, उसके अनुसार १ सृष्टि-प्रकरण, २ प्रलय-प्रकरण, ३ तन्त्र-निर्णय, ४ देवी सृष्टि का विस्तार, ५ तीर्थ-वर्णन, ६ ब्रह्मचर्यादि आश्रम-धर्म, ७ ब्राह्मणादि-वर्ण-धर्म, ८ जीव-सृष्टि का विस्तार, ९ यन्त्र-निर्णय, १० देवताओं की उत्पत्ति, ११ औषधि-कल्प, १२ ग्रह-नक्षत्रादि-संस्थान, १३ पुराणाख्यान-कथन, १४ कोष-कथन, १५ व्रत-वर्णन, १६ शौचाशौच-निर्णय, १७ नरक-वर्णन, १८ आकाशादि पञ्च-तत्वों के अधिकार के अनुसार पञ्च-सगुणोपासना, १९ स्थूल ध्यान आदि भेद से चार प्रकार का ब्रह्म का ध्यान, २० धारणा, मन्त्र-योग, हठ-योग, लय-योग, राज-योग, परमात्मा परमेश्वर की सब प्रकार की उपासना-विधि, २१ सप्त-दर्शन-शास्त्रों की सात ज्ञान-भूमियों का रहस्य, २२ अध्यात्म आदि तीन प्रकार के भावों का लक्ष्य, २३ तन्त्र और पुराणों की विविध भाषा का रहस्य, २४ वेद के षडङ्ग, २५ चारों उप-वेद, प्रेत-तत्त्व, पितृ-तत्त्व, चतुर्दश लोक-तत्व, जीव-तत्त्व, ज्ञान-तत्त्व, शुभाशुभ कर्म्म-तत्त्व, २६ रसायन-शास्त्र, रसायन-सिद्धि, २७ जप-सिद्धि, २८ श्रेष्ठ-तप-सिद्धि, २९ दैवी जगत्-सम्बन्धीय रहस्य, ३० सकल-देव-गण-पूजित शक्ति का वर्णन, ३१ षट्-चक्र-कथन, ३२ स्त्री-पुरुष-लक्षण वर्णन, ३३ राज धर्म्म, दान-धर्म्म, युग-धर्म्म, ३४ व्यवहार-रीति, ३५ आत्मा-अनात्मा का निर्णय इत्यादि विषयों का जिस शास्त्र में वर्णन किया गया हो, उसको तन्त्र-शास्त्र कहते हैं।

तन्त्र-शास्त्र कैसा अपूर्व, सर्व-हितकारी, लौकिक और अलौकिक ज्ञान से पूर्ण तथा आर्य्य-शास्त्र का एक प्रधान अंग है, यह उपरि-लिखित संक्षिप्त विषय-सूची से प्रकट है।

तन्त्रशास्त्रों की महिमा स्पष्ट करने के अभिप्राय से हमारे परम पूज्यपाद त्रिकाल-दर्शी महर्षियों ने निम्न घोषणा की है—

विष्णुर्वरिष्ठो देवानां ह्रदानामुदधिस्तथा।
नदीनाञ्च यथा गङ्गा पर्वतानां हिमालयः॥
अश्वत्थस्सर्व-वृक्षाणां राज्ञामिन्द्रो यथा वरः।
देवीनाञ्च यथा दुर्गा वर्णानां ब्राह्मणो यथा॥
तथा समस्त-शास्त्राणां तन्त्र-शास्त्रमनुत्तमम्।
सर्व-काम-प्रदं पुण्यं तन्त्रं वै वेद-सम्मतम्॥
(मत्स्य-सूक्त)

अर्थात् 'जिस प्रकार देवताओं में विष्णु जलाशयों में समुद्र, नदियों में गङ्गा, पर्वतों में हिमालय, वृक्ष-समूह में अश्वत्थ, राजाओं में इन्द्र, देवियों में दुर्गा और वर्ण-चतुष्टय में ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार सर्व-शास्त्रों में तन्त्र-शास्त्र सर्वोपरि प्रधान है।'

शास्त्रों में जो इस प्रकार से तन्त्र-शास्त्रों की

महिमा प्रकाशित की गई है, उसकी सत्यता का प्रमाण जिज्ञासुओं को निरपेक्ष बुद्धि द्वारा इस शास्त्र के ग्रन्थ-समूह के पाठ करने से ही मिल सकता है। यद्यपि अनेक तन्त्र-ग्रन्थों में ऐसे विषय भी प्राप्त होते हैं, जिनको देखने से जिज्ञासुओं को प्रथम दृष्टि में यह शास्त्र अरुचिकर हो सकता है, परन्तु यदि वे नियमित रूप से श्रेष्ठ तन्त्र-ग्रन्थों को अपनी निरपेक्ष बुद्धि एव सत्य-अनुसंधान-वृत्ति द्वारा अवलोकन करें, तो वे स्वतः ही स्वीकार करने लगेंगे कि वास्तव में तन्त्र-शास्त्र-समूह बहुत ही जीव-हितकारी हैं और जिस प्रकार इनकी प्रशंसा शास्त्रों में पाई जाती है, ये शास्त्र उसी प्रकार से किसी समय भारतवर्ष में सनातन धर्म के रक्षार्थ अपने पूर्ण स्वरूप में प्रकट थे, इसमें सन्देह नहीं।

विभिन्न तन्त्र-प्रणेताओं के विचार-द्वारा तन्त्रों को तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। यथा—१ श्री सदाशिवोक्त तन्त्र, २ पार्वती-कथित तन्त्र एवं ३ ऋषि-गण-प्रणीत तन्त्र-ग्रन्थ। ये १ निगम, २ आगम और ३ आर्ष तन्त्र कहाते हैं। तन्त्रों के इन प्रणेताओं के नाम द्वारा ही इनकी महिमा प्रकाशित हो जाती है।

कोई-कोई पाश्चात्य विद्याभिमानी इस प्रकार को शङ्का किया करते हैं कि तन्त्र प्राचीन आर्ष-ग्रन्थ नहीं हैं एवं अपने इस सिद्धान्त के पोषण में तन्त्रोक्त भाषा की सरलता का प्रमाण देते हैं, परन्तु भाषा की सरलता वा गम्भीरता से शङ्काओं की सिद्धि कदापि नहीं हो सकती, क्योंकि आर्ष ग्रन्थ में ऐसा देखने में आता है कि एक ही आचार्य ने कई प्रकार की भाषायें लिखी हैं। श्री भगवान् महर्षि वेदव्यास की वेदान्त-सूत्रोक्त भाषा में, उनकी महाभारत की भाषा में और उनकी श्रीमद्भागवत की भाषा में कितना अन्तर है! श्री महाभारत तथा श्रीमद्भागवत की भाषा में इतना अन्तर है कि प्रायः सभी पण्डित-गण विमोहित होने लगते हैं और यह अनुमान करने लगते हैं कि इन दोनों ग्रन्थों के भिन्न-भिन्न आचार्य हैं। नाना प्रकार के जीवों के कल्याणार्थ नाना अधिकार के ग्रन्थों में कई प्रकार की भाषाओं का प्रयोग करना कुछ असम्भव वा युक्ति-विरुद्ध नहीं है। इस कारण सरल भाषा के विचार से पूर्वोक्त शङ्का स्थायिनी नहीं हो सकती है।

कोई-कोई महाशय तन्त्र के आचार्यों की सत्यता के विषय में भी शङ्का किया करते हैं और कहा करते हैं कि शिवादि ईश्वर द्वारा तन्त्रों का प्रकाश होना कैसे सम्भव हो सकता है। क्या वे देवता-रूप धारण करके तन्त्र-ग्रन्थ लिखने को प्रकट हुये थे? ऐसी शङ्काओं के उत्तर में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार परमात्मा द्वारा वेद-कथन सम्भव हो सकता है; उसी प्रकार उनके अंश-रूप शिव द्वारा तन्त्रों का होना भी सम्भव है। अपौरुषेय, अनादि, अभ्रान्त और ज्ञान-ज्योति-पूर्ण वेद-समूह जिस प्रकार परमात्मा की इच्छा से ऋचाओं के रूप में ऋषि-गण द्वारा प्रकाशित हुये थे; उसी प्रकार श्री सदाशिव की इच्छा से उनके भक्त सिद्ध मुनि-गण-द्वारा तन्त्र-ग्रन्थों का भी प्रकाश होना पूर्ण-रूपेण युक्ति-युक्त है।

वेदोक्त रहस्य के समझने में कलियुग में अति कठिनता होना सम्भव होने के कारण तन्त्र-ग्रन्थ प्रकाशित हुये हैं, ऐसा वर्णन तन्त्रों में पाया जाता है। वेदोक्त कर्म-काण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञान-काण्ड इन तीनों का इस प्रकार विस्तारित विवरण तन्त्रों में पाया जाता है कि जिसको देखकर ज्ञानी पुरुष-गण चौंक उठते हैं। कहीं-कहीं वेद के ब्राह्मण-भाग के अध्याय के अध्याय का रूपान्तर तन्त्रों में देखने में आता है। कर्म-काण्ड का विस्तार इतना अधिक है और क्रिया-पद्धति इतनी सरल कर दी गई है कि इस समय वैदिक कर्म-काण्ड के स्थान पर बहुधा तान्त्रिक क्रिया-पद्धति ही भारतवर्ष में देख पड़ती है। निर्गुण ब्रह्मोपासना और उपनिषद्-कथित आत्म-रहस्य के साथ-ही-साथ सगुण पञ्चोपासना का वर्णन और उनकी उपासना की पद्धति तन्त्रों में इस प्रकार से विस्तार रूप से पाई जाती

है कि ऐसा किसी अन्य शास्त्र में नहीं पाया जाता।

विष्णु-यामल, वहन्नारदीय, हरि-रहस्य आदि तन्त्रों में विष्णूपासना का; रुद्रयामल, सिद्ध-दिगम्बर, शिव-विलास आदि तन्त्रों में शिवोपासना का; गणपति-सूक्त, गणेश-विमर्शिनी, सिद्धेश्वर-तन्त्र आदि में गणपति-उपासना का; वृहत्पाराशरीय, आदित्य-यामल, सप्त-शिखी आदि तन्त्रों में सूर्योपासना का और शक्ति-यामल, देवी-विलास, कुल-नायिका आदि तन्त्रों में शक्ति-उपासना का विस्तृत विवरण देखने से प्रतीत होता है कि सगुण पञ्चोपासना का विस्तारित रहस्य प्रधान रूप से तन्त्रों में ही पाया जाता है। इस प्रकार स्पष्ट है कि तन्त्र-ग्रन्थ वैष्णव, गाणपत्य, शाक्त, सौर और शैव इन सब उपासक-सम्प्रदायों के लिए परम हितकर है। अवतार-उपासना, ऋषि-देवता-पितृ-उपासना और निकृष्ट शक्ति-रूपी भूत-प्रेतादि की उपासना—सबका वर्णन विस्तृत रूप से तन्त्र-शास्त्रों में पाया जाता है। स्थूल-ध्यान-साध्य मन्त्र-योग के सोलह अङ्गों का पूर्ण विवरण अनेक तन्त्रों में मिलता है। विन्दु-ध्यान-साध्य जप-योग के विस्तारित विवरण के लिए इस समय तन्त्र-ग्रन्थ ही एकमात्र अवलम्बनीय हैं और राज-योग का वर्णन भी अन्तिम सिद्धान्त-रूप से प्रायः सब बड़े-बड़े तन्त्रों में पाया जाता है।

दैवी जगत्-सम्बन्धीय वर्णन, देव-देवियों के भेद, देवलोकों का वर्णन, प्रत्येक लोक की योगिनी आदि शक्तियों का वर्णन, मन्त्र द्वारा दैवी सिद्धि-प्राप्ति का वर्णन, तपादि द्वारा सिद्धियों का वर्णन और उपासना का विस्तारित क्रिया-सिद्धांश जिस प्रकार तन्त्रों में पाया जाता है, वैसा अन्य ग्रन्थों में प्रायः नहीं मिलता। नरक, स्वर्ग, पितृ, प्रेत-लोक, जीव की आति-वाहिक गति आदि का वर्णन अनेक तन्त्र-ग्रन्थों में अति विस्तार से पाया जाता है। ब्राह्मणादि-वर्ण-धर्म, पुरुष-धर्म, नारी-धर्म, स्त्री-पुरुष-परीक्षा, ब्रह्मचर्य-गृहस्थ-वानप्रस्थ और संन्यास-धर्म, नाना व्रत आदि का कथन एवं व्रत-साधन-प्रणाली, शौच और सदाचार धर्म, सृष्टि-तत्त्व, दान-धर्म, राज-धर्म, अनेक व्यावहारिक नीतियों आदि का वर्णन तन्त्र-ग्रन्थों में अति विस्तार से मिलता है।

ज्ञान-काण्ड का भी तन्त्र-शास्त्र भण्डार ही है। दर्शन-शास्त्रों के अनेक रहस्य व सप्त-ज्ञान-भूमियों के अनुसार सप्त-दर्शनों का विस्तार जिस प्रकार तन्त्र-ग्रन्थों में मिलता है, वैसा स्मृति-पुराणादि में नहीं मिलता। वैद्यक शास्त्र के लिए तो तन्त्र-शास्त्र प्रधान अवलम्बन ही है। शस्त्र-चिकित्सा, भैषज्य-चिकित्सा और रस-चिकित्सा इन तीनों में से रस-चिकित्सा का प्रधान भाण्डार तन्त्र ही हैं। वनौषधि आदि चिकित्सा का वर्णन भी तन्त्रों में कम नहीं है। वनौषधि के द्वारा अति सुगम रीति पर चिकित्सा करने की जो एक शैली 'अवधूत-चिकित्सा' के नाम से साधुओं में प्रचलित है, वह तन्त्रोक्त ही है। धातु और उप-धातु की सहायता से अनेक औषधि बनाने की अति सरल रीति जिस प्रकार तन्त्रों में वर्णित है, वैसी रीति वैद्य-शास्त्र के सिद्धान्त-ग्रन्थों में नहीं पाई जाती। सिद्ध-गुटिका आदि रस-सिद्धि और नाना रसायन-विद्या का पता तन्त्रों में ही लगता है। अनेक तन्त्र-ग्रन्थ गणित-ज्योतिष, फलित ज्योतिष और संगीत-विद्या के रहस्यों से परिपूर्ण हैं। कल्प-सूत्रों का क्रिया-सिद्धांश जिस प्रकार तन्त्रों में मिलता है, वैसा अन्य किसी शास्त्र में नहीं मिलता। अन्यान्य पदार्थ-विद्या आदि के भी अनेक विषय तन्त्रों में मिलते हैं।

त्रिगुण-भेद से प्रकृति के पहचानने की रीति, त्रिगुण का गूढ़ रहस्य व प्राकृतिक राज्य का अन्वय-व्यतिरेक द्वारा परिशीलन अनेक तन्त्र-ग्रन्थों में अति विस्तार से पाया जाता है। पुराण आदि शास्त्र के समझने के अर्थ, उसकी समाधि-भाषा, लौकिक-भाषा और परकीय-भाषा का विवरण और शास्त्रोक्त अध्यात्म-रहस्य, अधिदैव-रहस्य और अधिभूत-रहस्य तन्त्रों के अनेक ग्रन्थों में पाये जाते हैं और शक्ति-रहस्य-वर्णन का तो तन्त्र पूर्ण भण्डार ही है।

यह संसार शक्ति का ही विलास है। इस विषय को तो प्राचीन और आधुनिक पण्डित-गण एक-वाक्य होकर ही स्वीकार करते हैं। परन्तु शक्ति-तत्त्व का विस्तार जिस प्रकार तन्त्र-शास्त्रों में है, ऐसा अन्य शास्त्रों में नहीं पाया जाता। स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीय इन चार अवस्थाओं में महा-शक्ति का समान-रूप से दर्शन पूज्यपाद महर्षियों ने जिस प्रकार किया है, वैसा इस जगत् में न हुआ है और न होगा।

स्थावर-जङ्गमात्मक इस स्थल-जगत में जो कुछ परिणाम और जो कुछ सृष्टि-स्थिति-लय का कार्य हो रहा है, वह सब उस आद्या-शक्ति महामाया का ही कार्य है। आकाशादि पञ्च-तत्त्वों में व्यापक सौदामिनी (एलेक्ट्रिसिटी) आदि शक्तियों को पदार्थ-वादी पण्डित-गण चाहे जड-शक्ति-रूप से ही वर्णन करें और चाहे वे अपनी उत्तम प्रतिभा द्वारा उस शक्ति को अपने प्रबन्धाधीन लाकर उसके द्वारा अनेक प्रकार की कार्य-सिद्धि क्यों न कर सकें परन्तु हमारे आर्ष सिद्धान्त के अनुसार यह निश्चित ही है कि इस प्रकार की स्थूल आकाशादि पञ्चभूतों में स्पष्ट होनेवाली जड़-शक्ति के मूल में उस चेतन-मयी महा-शक्ति का महानुशासन विद्यमान है।

जिस प्रकार मनुष्य के स्थूल शरीर के नख-केशादि अङ्ग शरीर से अलग कर देने पर भी वे शरीर के अंश ही समझे जा सकते हैं, उनका शरीर के साथ सम्बन्ध रहने वा न रहने का फलाफल यद्यपि स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता, साधारण रूप से चेतनवान शरीर के वे अङ्ग होने पर भी जड़-वत् ही प्रतीत होते हैं, परन्तु शरीर के साथ विद्यमान रहते समय ह्रास, वृद्धि, क्षय आदि चैतन्य लक्षण स्पष्ट-रूप से दिखाई देते हैं; उसी प्रकार अन्तर्दृष्टि रखनेवाले ज्ञानी-गण उपरिलिखित जड़-शक्ति को भी चेतन-वत् मानेंगे। इसका दूसरा प्रमाण यह है कि शरीरस्थ केश-नखादि का सम्बन्ध शरीर के साथ रहते समय शरीर के रोग-ग्रस्त और नैरोग्य होने की अवस्था के साथ उनकी अवस्था-परिवर्तन का भी सम्बन्ध दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार आकाशादि स्थूल पञ्च-तत्त्वों में व्यापक स्थूल सौदामिनी-शक्ति की गति और स्थिति का समय-समय पर पता नहीं चलता।

जगत् की व्यापक सौदामिनी-शक्ति किसी समय मन्द और किसी समय तीव्र हो जाती है और किसी समय उसकी शक्ति का क्षणिक लोप भी प्रतीत होने लगता है, यह सब परिणाम पदार्थ-विद्या (साइन्स) के पण्डितों ने भली-भाँति अनुभव किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि स्थूल सौदामिनी के मूल में कोई और सूक्ष्म शक्ति विद्यमान है, जो इस स्थूल शक्ति की नियामिका है। विशेषतः यह तो सिद्ध नहीं हो सकता है कि यह स्थूल सौदामिनी स्थूल होने पर भी इसका स्वरूप क्या है? मनुष्य-बुद्धि से यह भी सर्वथा अतीत है कि इस स्थूल जड़-मयी कार्य-रूपिणी सौदामिनी शक्ति का कारण क्या है?

वेदोक्त दार्शनिक ज्ञान के अनुसार स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तुरीय—इन चार अवस्थाओं में ही शक्ति का पूर्ण रूप से सम्बन्ध रहने के कारण उक्त विज्ञान के सिद्धान्त से इस प्रकार की शक्तियाँ अनादि, अनन्त, चिन्मयी ब्रह्म-शक्ति के स्थूल परिणाम हैं। पिण्ड वा ब्रह्माण्ड के स्थूल शरीर में इस प्रकार की स्थूल शक्तियों के द्वारा एवं पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म शरीर-रूपी सूक्ष्म जगत् में जीव-शरीरस्थ प्राण-शक्ति और ब्रह्माण्ड स्थित महाप्राण-शक्ति के द्वारा उस सर्व-व्यापक चिन्मयी महा-शक्ति का परिचय मिलता है। पूज्यपाद महर्षियों ने यह स्पष्ट रूप से सिद्ध करके दिखाया है कि सूक्ष्म शक्ति के प्राण-शक्ति का विकार उत्पन्न होने पर उसकी गति और स्थिति में फेर पड़ जाने के कारण जीव-शरीर रोग-ग्रस्त हो जाता है, और उसी प्रकार महा-प्राण में असमता उत्पन्न होने पर पृथ्वी में अति-वृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं।

इसी प्रकार कारण-रूप से वही महा-शक्ति कारण-जगत् में उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण हुआ करती है। जीव-जगत् का सृष्टि-प्रवाह, जीव का उद्भिज्जादि योनि से क्रमशः मनुष्य-योनि में पहुँचाना, इस प्राकृतिक प्रवाह की सुरक्षा, धर्म के द्वारा मनुष्य को क्रमशः मुक्ति-भूमि में अग्रसर करना, साधक में अपने यथा-योग्य साधन के अनुसार ज्ञानोन्नति होना और अन्त में सच्चिदानन्द भाव-त्रय की सहायता से स्व-स्वरूप की उपलब्धि कराना—यह सब उस कारण-रूपिणी चैतन्य-मयी महा-शक्ति की कृपा का फल है। उसी प्रकार समष्टि जगत में सृष्टि, स्थिति, लय के क्रम की सुरक्षा करना भी उन्हीं का काम है। सर्व-शक्ति-मयी महा-माया का चतुर्थ अर्थात् तुरीय भाव मनुष्य की वाणी और मन से अगोचर है।

पूज्यपाद महर्षियों ने ऐसा वर्णन किया है कि "मैं और मेरी शक्ति—इस प्रकार विचार करने से जैसे मुझमें और मेरी शक्ति में अभिन्नता सिद्ध होती है, उसी प्रकार ब्रह्म और ब्रह्म-शक्ति महा-माया में अभेद है, वे तच्छक्ति-स्वरूपिणी सच्चिदा-नन्द-मयी हैं।', विष्णु-पुराण में कहा है—

स एव क्षोभको ब्रह्मन्! क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः।
स सङ्कोच-विकाशाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः।।
केचित्तां तप इत्याहुस्तमः केचिज्जडं परे।
ज्ञानं माया-प्रधानञ्च प्रकृतिं शक्तिमप्यजाम्।।
सा वा एतस्य सन्द्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया-नाम महाभाग! ययेदं निर्म्ममे विभुः।।

अर्थात् 'वही पुरुषोत्तम भगवान् क्षोभ्य और क्षोभक उभय-रूप से प्रतिभात होते हैं एवं संकोच और विकाश के द्वारा ब्रह्म और तच्छक्ति-स्वरूपिणी प्रकृति वा प्रधान उभय-रूप से विद्यमान रहते हैं। यह प्रकृति कहीं इच्छा-रूप से, कहीं माया-रूप से एवं कहीं शक्ति-रूप से वर्णन की गई है। यह शक्ति सदसदात्मिका है एवं चैतन्य-रूप भगवान् इसके द्वारा ही समस्त सृष्टि की रचना किया करते हैं।'

तात्पर्य यह है कि ब्रह्म और ब्रह्म-शक्ति महा-माया में कुछ भी भेद नहीं है। जिस प्रकार अग्नि में उसकी दाहिका शक्ति निहित रहती है, उसी प्रकार ब्रह्म में ब्रह्म-शक्ति निहित है। जैसे अग्नि से दाहिका-शक्ति अलग नहीं हो सकती, वैसे ही ब्रह्म और ब्रह्म-शक्ति का विलग होना असम्भव है। महा-शक्ति की यही अवस्था उनकी तुरीयावस्था है।

सुतरां पूर्व-कथित विज्ञान से यह सिद्ध हुआ कि चिन्मयी महा-शक्ति की स्थूलावस्था, सूक्ष्म-अवस्था, कारण-अवस्था और तुरीय-अवस्था—ये चारों स्वतन्त्र अवस्था होने पर भी उन्हीं चिन्मयी ब्रह्म-शक्ति की अवस्था के भेद से जगत् के सब अङ्गों में यावत्-शक्ति का विकाश हुआ करता है। क्या सत्य-लोकादि ऊर्ध्व-लोक, क्या इन्द्रादि देव-गण और क्या ये स्थावर-जङ्गमात्मक स्थूल जगत्—सभी उन अद्वितीय, अनादि, अनन्त, सच्चिदानन्द-मयी महा-शक्ति के ही प्रभाव, अनुशासन और सहायता से स्थित है और उन्हीं की सत्ता से ये सब सत्तावान् हैं। सकल देवता-पूजित इन महा-शक्ति का पूरा विवरण जिस प्रकार तन्त्र-शास्त्रों में पाया जाता है, ऐसा और कहीं नहीं पाया जाता।

तन्त्र-शास्त्र के विरुद्ध बहुधा दो बातें सुनने में आती हैं। प्रथम तो तन्त्र-शास्त्र में धर्म-शास्त्रों के विरुद्ध खान-पान आदि की विधि 'वामाचार' नामक तन्त्रोक्त आचार में पाई जाती है और द्वितीय इसमें मारण, वशीकरण आदि तामसिक सिद्धियों का पाया जाना है। परन्तु धीरता के साथ निरपेक्ष-बुद्धि द्वारा विचार करने से यही सिद्ध होगा कि तन्त्र-शास्त्र में इतनी सब बड़ी-बड़ी बातों के साथ ऐसे निम्न अधिकार का वर्णन रहने से तन्त्र की महिमा और उसका गौरव ही अधिक प्रगट होता है। जिस शास्त्र में बड़े-से-बड़े और छोटे-से-छोटे सभी विषय पाये जायँ, उस शास्त्र की महिमा अधिक ही होनी चाहिये। विशेषतः 'वामाचार' के विषय में तन्त्र ही क्या कहते हैं, उसका आशय नीचे लिखा जाता है—

साधकों के अर्थ त्रिविध आचारों का वर्णन आचार्यों ने किया है। यथा—१ दिव्य, २ दक्षिण और ३ वाम। साधक के सात अधिकार कहे गये हैं—१ दीक्षा, २ महा-दीक्षा, ३ पुरश्चरण, ४ महा-पुरश्चरण, ५ अभिषेक, ६ महाभिषेक और ७ 'तद्भाव। इन अधिकारों के द्वारा साधक मुक्ति-पद को उपलब्ध कर सकता है, इसमें सन्देह नहीं। साधक के इन सात अधिकारों के नाम तन्त्रादि शास्त्र में दिव्य, दक्षिण, वाम आचारों के अनुसार बहु-प्रकार के हैं, जो स्व-स्व सम्प्रदायों में व्यवहृत् होते हैं।

वाम और दक्षिण एक दूसरे से भिन्न हैं। दोनों का लक्षण निवृत्ति-मूलक होने पर भी एक प्रवृत्ति-परक और दूसरा निवृत्ति-परक है। मनुष्यों में प्रवृत्ति स्वाभाविकी है, किन्तु निवृत्ति महा-फल देने-वाली है। इस कारण उपासना में भी दोनों आचारों का वर्णन देखने में आता है। आचार उपासना के अन्तर्भावों का परिचायक और त्रिविध शुद्धि-परिचायक है। स्व-स्व आचार के भेद श्री गुरु-मुख से जान लेने योग्य हैं।

जिस आचार में निवृत्ति-मार्ग के पूर्णाधिकारी-गण स्वभावतः रत होते हैं, ऐसा दिव्याचार है, जो पूर्वोक्त दोनों आचारों से तृतीय है। वाम और दक्षिण दोनों आचार परस्पर-विरुद्ध हैं परन्तु दिव्याचार दोनों से अविरुद्ध और सर्व-जीव-हित-कारी है। वाम आचार प्रवृत्ति-परक, दक्षिण निवृत्ति-परक है एवं दिव्याचार प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों से अतीत है। यह द्वन्द्वातीत होने से परमानन्द-प्रद माना गया है।

शक्ति की उपासना में समस्त तन्त्र-शास्त्र के अनुसार उक्त आचार वामाचार और दक्षिणाचार इन दो भेदों से दो प्रकार का होता है। शक्ति की उपासना में शक्ति की प्रधानता होने से तत्त्व-दर्शियों ने साधनों का बहु विस्तार किया है एवं अधिकार भी दो रखे हैं। तन्त्रों में शक्ति-उपासना-विधि का बहुत विस्तार है। तन्त्रशास्त्रज्ञ ऋषियों ने दक्षिणाचार से जो विपरीत हो, उसे वामाचार कहा है। साधक के सात्विक होने पर उसे दिव्याचार कल्याणकारक होता है और राजसिक साधक के लिए पश्वाचार हितकर है एवं तामसिक साधक वामाचार का अधिकारी है। वामाचार को वीराचार भी कहते हैं। यह कलियुग में लोक-कल्याणार्थ निर्णीत हुआ है। कलियुग में अपनी-अपनी प्रकृति के वश जीव-गण इस आचार-द्वारा अक्षय कल्याण-साधन कर सकेंगे। इस प्रकार प्रवृत्ति की क्रियाओं में निवृत्ति का लक्ष्य रहने के कारण घोर प्रवृत्ति की चेष्टाओं में भी साधक आत्मोन्नति करता हुआ सिद्धि प्राप्त कर सकता है। मुनियों से आदृत वामाचार का यही रहस्य है।

तन्त्रों में शक्ति-उपासना में ही वामाचार-क्रिया-प्रधान लता-साधन का वर्णन है परन्तु वैष्णवादि चार सम्प्रदायों में जहाँ युगल-उपासना की विधि है, ऐसे सम्प्रदायों में भी इस क्रिया का वर्णन किसी-किसी तन्त्र में मिलता है। दक्षिणाचार में जिस प्रकार दो भेद हैं, उसी प्रकार वामाचार में आठ भेद तान्त्रिकों द्वारा माने गए हैं। इस आचार में साधक के सात भेद माने गये हैं। वामाचार के इन्हीं सात अधिकारों के नाम दीक्षा, महादीक्षादि रूप में पहले कहे गये हैं। इस वर्णन से वामाचार का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित होता है। इससे तन्त्र-शास्त्र में सन्देहकारी सज्जनों का सन्देह अपने आप ही दूर हो जायगा।

दूसरे सन्देह के निराकरण के लिए पूज्यपाद महर्षि-गण ने किस प्रकार तन्त्र-निर्णय किया है, वह विचारने योग्य है। भक्ति-मार्ग के प्रधान आचार्य महर्षि शाण्डिल्य जी ने अपने सूत्रों में कहा है:—

सर्वानृते किमिती चेन्नैव बुद्ध्यानन्यात्।

'सब छोड़ देने पर फिर सिद्धि की क्या आवश्यकता ? आवश्यकता बहुत है क्योंकि बुद्धि बहुत प्रकार की होती है।'

तात्पर्य यह है कि यदि जिज्ञासु-गण के हृदय में यह शङ्का उठे कि जीव को तो सदा मुक्ति का ही चिन्तन करना उचित है, भक्ति ही उसके लिए श्रेय है, तो ऐश्वर्यों का वर्णन क्यों किया जाय ? साधक भक्त-गण ऐश्वर्य लेकर क्या करेंगे ?

इसके उत्तर में महर्षि सूत्रकार कहते हैं कि जीव अनन्त हैं, इस कारण जीवों की मति-गति का भी ठिकाना नहीं। सभी जीव मुक्ति के अभिलाषी थोड़े ही होते हैं। जो साधक ऐश्वर्य का भिखारी हो, उसके अर्थ ऐश्वर्यों का होना भी जरूरी है क्योंकि साधक जब अपनी कामना के अनुसार सिद्धियों को प्राप्त कर लेगा, तभी वह आगे को बढ़ेगा; वासना रहते जीव मुक्ति का अधिकारी हो ही नहीं सकता। इस कारण मध्य-वर्ती साधकों के हितार्थ और प्रार्थना-कारियों की प्रार्थना पूर्ण-करणार्थ उन पर कृपा-वश हो आचार्य-गण ने अपने ग्रन्थ में सिद्धियों का वर्णन किया है। हठ-योग, लय-योग, मन्त्र-योग और उपासना-काण्ड के ग्रन्थों में इन सिद्धियों का वर्णन पाया जाता है। 'योग-दर्शन' में इन सिद्धियों का वर्णन बहुत विस्तृत रूप से है।

वैदिक-धर्म्म-समाज में जितने प्रकार के साधन-सम्प्रदाय प्रकट हैं, उन सबकी एकमात्र भित्ति योगि-राज महर्षि पतञ्जलि-कृत योग-दर्शन है। इस दर्शन-शास्त्र के पठन करने से स्वतः ही प्रमाणित होता है कि पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलि भी सिद्धि-वर्णन एवं सिद्धि-विस्तार के विशेष पक्षपाती थे। उनके योग-दर्शन में "विभूति-पर्वाध्याय" नाम से एक स्वतन्त्र अध्याय ही है। सिद्धियों की पुष्टि का प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता है !

सिद्धि-समूह द्वारा प्रकृति-राज्य पर साधक का अधिकार दृढ़ हुआ करता है। अतः जब तक साधक का प्रकृति-राज्य से सम्बन्ध है, तब तक निःस्वार्थ-रूपेण उसका सम्बन्ध अवश्य रहना सम्भव है।

सिद्धियाँ समाधि-दशा में हानि-जनक होने पर भी व्युत्थान या लौकिक दशा में, प्रवृत्ति-परायण मनुष्य को रुचि वा विश्वास धर्म-मार्ग में बढ़ाने के लिए हितकर हैं। गुण-भेद से सिद्धियों में छुटाई-बड़ाई हुआ करती है; साधक भी गुण-भेद से सिद्धि की प्राप्ति में निःस्वार्थी अथवा घोर स्वार्थी होते हैं। वैसे ही साधक निःस्वार्थ कर्म-द्वारा क्रमशः उन्नत दशा की प्राप्ति एवं स्वार्थ-पूर्ण कर्म द्वारा क्रमशः अधोगति की प्राप्ति किया करते हैं।

तन्त्रों में निकृष्ट और उत्कृष्ट दोनों प्रकार की सिद्धियों का वर्णन है। साधक गुण-भेद से तीन प्रकार के हुआ करते हैं, जिनमें से सात्विक साधक को तो सिद्धियों की इच्छा ही नहीं रहती, राजसिक साधक को उत्कृष्ट सिद्धियों की इच्छा रहती है और तामसिक साधक सदा निकृष्ट सिद्धियों के लिये व्यग्र रहा करते हैं। इसी कारण राजसिक एवं तामसिक साधकों की कामना-पूर्ति के अर्थ और साधन-मार्ग में चमत्कार दिखाकर उनको अग्रसर करने के अर्थ तन्त्रशास्त्रों ने सिद्धियों का प्रकाश किया है। अतः तन्त्रशास्त्रों में उनका वर्णन किसी प्रकार से भी निन्दनीय नहीं हो सकता।

वेदों में भी सात्विक, राजसिक व तामसिक साधकों के उपकारार्थ ज्ञान-यज्ञ, पशु-यज्ञ और श्येन-यज्ञ का वर्णन है, जिनका अनुष्ठान अधिकारा-नुसार करने से अपकार न होकर उपकार ही होता है। इसी प्रकार तन्त्र के अन्तर्गत तामसिक साधनों के विषय में भी समझना चाहिये। अधिकार-भेद के रहस्य को भूल जाने से ही ये सब बातें खराब लगती हैं। स्मरण रहे कि संसार में कोई वस्तु खराब या कोई वस्तु अच्छी नहीं है। अच्छी-बुरी अपने-अपने अधिकार के अनुसार ही हुआ करती है। एक वस्तु, जो किसी के लिये अच्छी है, वही दूसरे के लिये बुरी हो सकती है।

तन्त्र के खराब साधन सात्विक व राजसिक मनुष्यों के लिये खराब व पतन के कारण हो सकते हैं, परन्तु यथेच्छा मद्य-मांस-मैथुनादि का सेवन करने-वाले महा-तामसिक मनुष्यों के लिये उन सब खराब वस्तुओं के साथ धर्म-भाव-युक्त साधन मिलाकर उन वस्तुओं का ही व्यवहार करना अनर्गल व्यव-

हार से कुछ अच्छा अवश्य है। जिससे धीरे-धीरे धर्म-भाव बढ़कर वे सब बुरी आदतें छूट सकती हैं। यही इसका रहस्य है।

वेद, स्मृति, पुराण और तन्त्र इन चार प्रकार के अध्यात्म-ग्रन्थों के साथ सत्य-युग, त्रेता-युग, द्वापर-युग और कलि-युग का यथा-क्रम सम्बन्ध है। चारों युगों के मनुष्यों का अधिकार-निर्णय और तन्त्र-शास्त्रोक्त आचार का अधिकार-निर्णय आदि विषय महानिर्वाण तन्त्र में वर्णित है, जिसका सारांश यह है—

"सृष्टि के आदिकाल में वेदों का प्रकाश हुआ था। जिन वेदों के द्वारा सर्व प्रकार के धर्म्मों की वृद्धि और वर्णाश्रम-धर्म्म की प्रतिष्ठा होती आई है, उन वेदोक्त याग-यज्ञ-रूप कर्म-समूह से पृथ्वी पर पुण्यशील मानव-गण 'सत्य-युग' के अन्तर्गत सदा धर्म-साधन करते हुये देवता-गण और पितृ-गण की परितृप्ति किया करते थे। उस सत्ययुग में मनुष्य-गण स्वाध्याय, ध्यान, तपस्या, दया और दानादि धर्म्म-कार्यों द्वारा जितेन्द्रिय हुआ करते थे। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रगण अपने आचारों के अनुगामी होकर वर्ण-मर्यादा के अनुसार धर्म-साधन करते हुये परम-कल्याण को प्राप्त करते थे।

'त्रेता-युग' के मनुष्यों के वेदोक्त तपस्या और स्वाध्याय में असमर्थ होने के कारण स्मृति-शास्त्रोक्त कर्म-काण्डों ने उनकी भलीभांति रक्षा की थी एवं उस समय के जीवों का उद्धार किया था।

'द्वापर-युग' में जीवों ने स्मृति-शास्त्रोक्त सुकृतियों का त्याग कर दिया; धर्म्मार्द्ध-भाव लोप हो गया, मनुष्य-गण मानसिक क्लेश और शारीरिक व्याधियों से आकुलायित हो गये। तब संहिता और पुराणादि शास्त्रों द्वारा संसार के जीवों का उद्धार हुआ था।

'कलि-युग' में वेद-समूह की प्रभुता जीवों के चित्त पर नहीं रहेगी। स्मृति-शास्त्र-समूह के शरण भी मनुष्य-गण न आ सकेंगे एवं नाना इतिहास-पूर्ण सत्पथ-प्रदर्शन-कारी पुराण-शास्त्र भी कार्यकारी न हो सकेंगे। पुराण आदि शास्त्रों के लोप होने से मनुष्य धर्म-कर्म-विमुख होने लगेंगे और असत् कर्म करने में सदा निर्भय रहेंगे। विप्र-समूह सन्ध्या-वन्दनादि-रहित होकर शूद्राचार-परायण, संस्कार-विहीन और तपस्या-व्रत-पराङ्मुख होने लगेंगे। ब्राह्मण का चिह्न केवल यज्ञ-सूत्र मात्र रहेगा और वे यथेच्छाचारी होंगे तथा सर्वदा वेद और धर्म-शास्त्रों की निन्दा और साधुओं से द्रोह किया करेंगे। इसी कारण जीवों के कल्याणार्थ उनके भोग-साधन और मुक्ति-साधन—इन दोनों प्रकार के साधनों के लिये वेद और शास्त्र के अनुकूल 'तन्त्र-शास्त्र' का प्रणयन किया गया है।"

तन्त्रशास्त्र के उक्त वचनों से यह सिद्ध होता है कि कैसे युग के कैसे अधिकारियों के लिये तन्त्रोक्त विशेष-विशेष साधन-पद्धति और विशेष-विशेष आचार विशेष-विशेष तन्त्रों में वर्णन किये गये हैं। तन्त्रशास्त्र के ग्रन्थ सूक्ष्म विचार द्वारा सात भागों में विभक्त हो सकते हैं—१ ज्ञानकाण्ड-प्रधान, २ कर्मकाण्ड-प्रधान ३ वैष्णव उपासना-प्रधान, ४ सूर्य-उपासना-प्रधान, ५ शाक्त उपासना-प्रधान, ६ गणपति-उपासना-प्रधान और ७ शिव-उपासना-प्रधान। इनमें से शक्ति-उपासना प्रधान तन्त्रों की संख्या अधिक है।

❀ काशी के श्री स्वामी दयानन्द-विरचित श्री सत्यार्थ-विवेक (प्रथमखण्ड) के द्वितीय समुल्लास के षष्ठ अध्याय के आधार पर।

तन्त्र विवेचन

[१] तन्त्र

'तन्त्र' के विषय में एक भारी भ्रम है कि 'तन्त्र' केवल शाक्तों का ही अनुसरणीय शास्त्र है और केवल वामाचारी ही तांत्रिक हैं। दूसरा भ्रम यह है कि 'तन्त्र' वेद से सर्वथा भिन्न है। इस हेतु 'तन्त्र' की विवेचना होनी जरूरी है।

'तन्त्र' शब्द के अनेक अर्थ हैं, जैसे योग शब्द के। 'तन्त्र' शब्द काशिका-वृत्ति में तन् धातु (विस्तारे) से बनता है, जिसका अर्थ विस्तार (तन् स्त्रन्) है। दूसरा 'तत्री' अथवा 'तन्त्री' से शब्द बनता है, जिसका अर्थ व्युत्पादन या ज्ञान-वाचक होता है। पहिले का अर्थ है—

'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानं अनेन इति तन्त्रम्'

अर्थात् जिससे ज्ञान का विस्तार हो या जो ज्ञान को बढ़ावे। त्र' का अर्थ है त्राण—रक्षा। वह ज्ञान, जो रक्षा करे। तो ऐसा कौन सा ज्ञान है सिवाय ब्रह्म-ज्ञान के, जो रक्षा करे? यही तन्त्रान्तर-पटल कहता है—

तनोति विपुलानर्थान् तत्व-मन्त्र-समन्वितान्।
त्राणञ्च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥

जैसे वेदों को ब्रह्मा ने प्रकट किया, वैसे ही शिवजी ने तन्त्रों को प्रकट किया। तन्त्रों के आदि आचार्य्य शिवजी हैं। इनको आगम कहते हैं, परन्तु निगम भी तन्त्र ही हैं। आगम और निगम में एक-मात्र यही भेद है कि आगम वह है, जिसकी शिवजी ने व्याख्या की है और निगम वह है, जिसकी व्याख्या श्री पार्वती जी ने की है। तन्त्र दो प्रकार के हैं—एक वैदिक और दूसरे अवैदिक। अवैदिक अनुसरणीय नहीं हैं। इनसे महान् अकल्याण होता है। जैसे मारण, उच्चाटनादि क्रिया। आगम तन्त्र सगुण ईश्वर (सकल ब्रह्म) की साधना-विषयक है। वैसे तो सभी साकार देवों के भिन्न-भिन्न तन्त्र या आगम हैं, किन्तु मुख्यतया इसके तीन विभाग हैं—प्रथम शाक्तागम, दूसरा शैवागम और तीसरा वैष्णवागम या पञ्चरात्र। इसी आखिरी को लक्ष्य करके श्रीमद्भागवत में लिखा है—

तेनोक्तं सत्वतं तन्त्रं यद्ज्ञात्वा मुक्ति-भाम् भवेत।
यत्र स्त्री-शूद्र-दासानां संस्कारो वैष्णवः स्मृतः॥

अर्थात् इसी हेतु तन्त्र कहा है, जिसको जानने से मुक्ति होती है और जहाँ स्त्री, शूद्र, दासादिक अनधिकारियों का वैष्णव-संस्कार होता है।

शूद्र और स्त्री के वेदों का अधिकारी न होने से कृपा-नाथ शिव जी ने वेदों का सार निकाल इस युक्ति से व्यवस्था की कि अनधिकारी अर्थात् स्त्री, शूद्र आदि भी सुलभ रीति से सकल-ब्रह्मोपासना कर सकें। 'तन्त्र' शब्द मुक्ति-द्योतक भी है। 'तन्त्र' वेदों का सार है अर्थात् वेद से ही सम्बद्ध है जैसे वेदों के उप-वेद हैं, पुराणों के उप-पुराण हैं, वैसे ही आगम के उपागम भी हैं। सनत्-कुमार-संहिता कहती है—

श्रौताश्रौत-विभेदेन द्विविधस्तु शिवागमः।
श्रुति-सार-मयः श्रौतः सः पुनर्द्विविधो मतः॥

शैवागम में मूल २८ आगम हैं और २०७ उपागम हैं। इसी प्रकार शाक्तागम में भी मूल आगम और उपागम हैं। शाक्तागम और शैवागम में बहुत समानता है। कारण दोनों में शिव और शक्ति की

साथ-साथ उपासना है। भेद इतना ही है कि शाक्तगम में शक्ति की प्रधानता है और शैवागम में शिव या शक्तिमान् की प्रधानता है। महा-विष्णु और सदा-शिव एक हैं। आदि-नारायण ही पर-शम्भु निर्गुण ब्रह्म हैं। प्रतिबिम्ब ही माया है, जिससे दश दिक्-पालों की सृष्टि होती है।

'तन्त्र' केवल वेद-सम्बन्धी ही नहीं है, किन्तु इसमें दर्शनों का भी सार (निचोड़) रखा गया है। पूज्यपाद शङ्कराचार्य्य ने तो सांख्य-दर्शन को तन्त्र ही कहा है। तन्त्र में अद्वैत और द्वैत दोनों मत हैं। इन दर्शनों का तन्त्रों में समन्वय है। प्रथम योग-दर्शन है, जिसके बिना तान्त्रिक साधना हो ही नहीं सकती, क्योंकि तान्त्रिक साधना में ध्यान और जप प्रधान हैं। सिद्धि तो जप से ही है—

जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्जपात् सिद्धिर्न संशयः।

यहाँ सिद्धि का अर्थ समाधि है। दूसरा वेदान्त-दर्शन (उत्तर-मीमांसा) का समन्वय है। देवता के यजन (पूजा) में सोऽहम् की भावना करनी है—

देवो भूत्वा देवं यजेत्।

तीसरा सांख्य या द्वैत का समन्वय है। प्रकृति-पुरुष का विषय है। इसके ऊँचे स्तर पर 'सोऽहं' या 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' आता है। चौथा पूर्व-मीमांसा है, जिसमें कर्मकाण्ड मुख्य है। यही कर्मकाण्ड उपासना-क्रम है। पाँचवाँ वैशेषिक है, जिसका अणु से सम्बन्ध है अर्थात् जो अणु विश्व-व्यापी है, विश्व-स्रष्टा व विश्व-पालक और संहारक है, वही अणु साधक में भी है। उसको साधक कुण्डलिनी को जगा कर अतुल अकथनीय शक्ति प्राप्त करता है। केवल न्याय-दर्शन, जो एक प्रकार से नास्तिकवादी है, उसका समावेश तन्त्र' में नहीं है। न्याय-दर्शन ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध कर कर्त्ता ही कह कर रह जाता है। व्याकरण के भी शब्द-ब्रह्म का इसमें समावेश है।

पुराण, उप-पुराण, संहिता, उपनिषत् इत्यादि 'तन्त्र' के समर्थक हैं। समर्थक क्यों न हों, जब कि वेद का सार ही 'तन्त्र' है। बौद्ध लोग भी तान्त्रिक थे और हैं। चीनागम, बौद्धागम, जैनागम इत्यादि भिन्न-भिन्न पथ और मतावलम्बियों के निज के 'तन्त्र' हैं और ये कब से हैं, इसका पता नहीं। रामायण, महाभारत इत्यादि प्राचीन-तम ग्रन्थों में भी 'तन्त्र' का उल्लेख है। जहाँ पर मन्त्र, यन्त्र, न्यास इत्यादि हैं, वही तन्त्रशास्त्र है। इसी हेतु तन्त्रशास्त्र को मन्त्रशास्त्र भी कहते हैं। रामायण में जहाँ कहीं पाशुपतास्त्र, अघोरास्त्र, ब्रह्मास्त्र इत्यादि का उल्लेख है, वह मन्त्र का ही है। ये सब मन्त्र हैं, जिनसे शर को मन्त्रित करके शत्रु के प्रति प्रयोग हुआ था। इन मन्त्रों में से कुछ मन्त्र उपलब्ध भी हैं। त्रेता, द्वापर युगों में भी तान्त्रिक उपासना प्रचलित थी। स्वयं भगवान् रामचन्द्र जी ने श्री गुह्यकाली के मन्त्र की उपासना की थी। इसी से रामोपासिता विद्या-मन्त्र का उल्लेख मिलता है। भरतोपासिता विद्या-मन्त्र है इत्यादि।

रावण का रचा एक 'उड्डीश' है। 'उड्डीश' 'तन्त्र' का ही अङ्ग-ग्रन्थ है जैसे यामल, डामर इत्यादि। सम्मोहन तन्त्र के छठें अध्याय में इस प्रकार तन्त्रों की संख्या का उल्लेख है—शाक्त-'तन्त्रों' की संख्या ६४, उप-तन्त्रों की संख्या ३२७ और इनके सिवा यामल, डामर, संहिता इत्यादि हैं। शैव-तन्त्रों की संख्या ३२, उप-तन्त्रों की १२५ तथा यामल, डामर इत्यादि हैं। गाणपत्य और सौर्य्य 'तन्त्र' भी हैं, जिनकी संख्या का उल्लेख नहीं मिलता है।

जैसे चार वेद हैं, वैसे तन्त्र के छः आम्नाय हैं—१ पूर्वाम्नाय, २ दक्षिणाम्नाय, ३ पश्चिमाम्नाय, ४ उत्तराम्नाय, ५ ऊर्ध्वाम्नाय और ६ पाताला-म्नाय। तन्त्र में क्या नहीं है? ब्रह्मोपासना से लेकर विज्ञान, कानून, औषधि, केमिस्ट्री, ज्योतिष इत्यादि सब विषय हैं। "जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ"।

अब रही बात कि 'तन्त्र' केवल वामाचारी का ही नहीं है। जैसा पूर्व लिख चुका हूँ, 'तन्त्र' केवल

शाक्तों का ही नहीं है, वैष्णव इत्यादि का भी है। अत्र शाक्त कौन है, यह विवेचना करनी है। 'शाक्त' शब्द का अर्थ है शक्ति का उपासक। शक्ति शब्द से यहाँ परम शक्ति (परम सत्ता) का बोध है, न कि पाशविक शक्ति, जिसको अङ्ग्रेजी मे 'ब्रूट फोर्स' कहते हैं। वेदों की मुख्य उपास्य देवता गायत्री है, जिसके उपासक सभी द्विज हैं यानी ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। इसी से कहा है—

सर्वे शाक्ताः द्विजाः प्रोक्ता न च शैवा न च वैष्णवाः।

तीनों वर्णों का यज्ञोपवीत-संस्कार होता है, सावित्री गायत्री मन्त्र की दीक्षा होती है और वेदाचार द्वारा ही उपासना होती है। 'तन्त्र' में वेदाचार इत्यादि सात आचार बताए हैं। यथा—१ वेदाचार, २ वैष्णवाचार, ३ शैवाचार, ४ दक्षिणाचार, ५ वामाचार, ६ सिद्धान्ताचार और ७ कौलाचार।

तीन भाव के मनुष्य होते हैं। त्रिगुण अर्थात् तमोगुण, रजोगुण, सत्वगुण से सृष्टि है अर्थात् त्रिगुणात्मिका सृष्टि है। तीनों गुण अधिक वा थोड़े अंश में सभी में हैं। जिसमें तमोगुण अधिक अंश में है, वह पशु है; जिसमें रजोगुण अधिक है, वह वीर होने योग्य है और जिसमें सत्वगुण अधिक है, वह दिव्य है। इनके भी कई एक विभाग हैं। जैसे पशु-वीर, पशु-दिव्य, वीर-पशु, वीर-दिव्य, दिव्य-पशु, दिव्य-वीर इत्यादि। एक ही उपासना अपनी योग्यतानुसार भिन्न-भिन्न आचार और भाव से होती है। इन तीनों भावों का सामञ्जस्य भक्ति-योग, कर्म-योग और ज्ञान-योग तीनों से है। वेदाचारादि चार आचारों से उपासना कर लेने पर ही वामाचार का अधिकारी होता है।

'तन्त्र' वेद से भिन्न नहीं है। इस बात को पुष्टि पूर्वोक्त सनत्कुमार संहिता के वचन से हुई है। अथर्ववेद तो तन्त्रात्मक ही है। उपनिषद् वेदाङ्ग है, तो काली, तारा इत्यादि महाविद्याओं के भी उपनिषद् हैं, जिनसे उपासना की जाती है। वेद में मन्त्रोद्धार भी मिलता है। जैसे अथर्वशीर्ष में नवार्ण मन्त्र का, माया-बीज का मन्त्रोद्धार है।

संक्षेप में कहना है कि तन्त्रोक्त पञ्च-मकार तक का प्रयोग भी वेदानुकूल ही है। सोम-यज्ञ और हविर्यज्ञ सौत्रामणि के साथ बिना सुरा के नहीं होते थे। प्रमाण— रिग विधान ब्राह्मण इत्यादि। मत्स्य और मांस भी यज्ञ में निवेदित होता था। प्रमाण—कात्यायन श्रौत सूत्र इत्यादि। मैथुन भी यज्ञ का एक प्रधान अङ्ग था। प्रमाण—लाट्यायन श्रौत सूत्र, कात्यायन श्रौत सूत्र, गोभिल गुह्य सूत्र इत्यादि। मुद्रा भी यज्ञ में निवेदित होती थी। प्रमाण—ऐत्तरेय आरण्यक, ऐत्तरेय ब्राह्मण, शतपथ ब्राह्मण इत्यादि।

वेद और 'तन्त्र' दोनों एक ही सिद्धान्त के पोषक हैं। प्रक्रिया भी मूल में दोनों की एक ही है। भेद केवल यही है कि वैदिक यज्ञ, मन्त्र इत्यादि बहुत लम्बे कष्ट-साध्य हैं और तान्त्रिक योग, मन्त्र, प्रक्रियायें स्वल्प सुसाध्य होती हैं। समय भी जहाँ वैदिक कर्मों का बहुत लम्बा हजार वर्षों तक निर्द्धारित है अर्थात् अवधि एक दिन से लेकर हजार वर्ष तक है, वहाँ तान्त्रिक अनुष्ठान की अवधि बहुत कम है। 'तन्त्र' में वैदिक मन्त्र जो बड़े लम्बे होते हैं, उनके बीज रखे हैं। वेद और 'तन्त्र' दोनों अनादि हैं और चारों युगों में व्यवहृत थे।

कोई-कोई यह कहते हैं कि 'तन्त्र' केवल कलियुग के लिये ही है। यह एक भ्रम है। कारण वशिष्ठ ऋषि किस युग में थे? और उन्होंने द्वितीया विद्या (तारा) की उपासना महा-चीन-क्रम से ही करके सिद्ध किया था। स्वयं भगवान् रामचन्द्र जी और भरत जी ने तान्त्रिक उपासना की थी। तो वे किस युग में थे! इससे सिद्ध है कि 'तन्त्र' को वेद-वत् सभी युगों में मान्यता प्राप्त रहा है।

'तन्त्र' के द्वारा वस्तुतः वेद में प्रतिपादित सिद्धान्तों की ही व्याख्या विस्तृत रूप में की गई है। इसका विवेचन आगे किया जा रहा है।

[२] वेद और तन्त्र की एकता

'वेद' का प्रकृत अर्थ है ब्रह्मा अर्थात् विश्व-मानस का ज्ञान। इसमें सभी प्रकार के यथार्थ ज्ञान सन्निहित हैं। यह समय-समय पर व्यक्त होते रहते हैं। वेदों में वस्तुतः वेद-वस्तु एक ही है। वेद चार हैं—१ ऋक्, २ यजुस्, ३ साम और ४ अथर्वण। यथार्थतः दो के ही ये चार हैं—एक विकासात्मक और दूसरा सङ्कोचात्मक। ऋक्, यजुस और साम विकासात्मक धर्म, अर्थ और काम-मूलक हैं तथा तुरीय-पादात्मक अथर्वण है सङ्कोचात्मक मोक्ष-मूलक। पूर्वोक्त तीन वेद रस वेद, वितान वेद और छन्दो वेद के ज्ञापक हैं अर्थात् यजुस् रसात्मक, साम वितानात्मक और ऋग्वेद छान्दस है।

विश्व के सभी छोटे और बड़े पदार्थ इन्हीं तीनों वेदों अर्थात् तीनों शक्तियों से बने हैं। पदार्थ के व्याकरण से ऐसा सिद्ध है। (व्याकरण दो प्रकार का है—एक पद अर्थात् शब्द का और दूसरा पद के अर्थ पदार्थ का। प्रथम से शब्द की बनावट का ज्ञान होता है और दूसरे से पदार्थ की बनावट का। सुतरां शाब्दिक को वैय्याकरण कहना भ्रान्ति है)। त्रिवेद के बिना किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं है। ये तीनों शक्तियाँ किस प्रकार प्रत्येक वस्तु में रहती हैं, इसका दृष्टान्त हम सूर्य नामक वस्तु से दे सकते हैं। सूर्य-मण्डल एक गोलाकार वस्तु जैसा जो दीखता है, वही ऋक्-शक्ति है अर्थात् ऋक्-शक्ति से उत्पादित है। इस मण्डल से बाहर जो प्रकाश-मय अर्चि दीख पड़ती है, वही साम-शक्ति है और मण्डल जिस शक्ति से भरा है, वही यजुस्-शक्ति है। इसी से कहा गया है—'यजुः सर्वत्र गीयते।'

इसी तरह 'वेद' का तात्पर्य है—पदार्थ-ज्ञान या विश्व-ज्ञान। इसको अनुभूति कहते हैं। अनुभूति ही यथार्थ (सच्चा) ज्ञान है। फिर जिस प्रक्रिया के द्वारा अनुभूति होती है, उसको भी 'वेद' कहते हैं—'यद् वेद तद् वेदः, येन वेद तच्च वेदः।' इस अनुभूति की व्यक्ति अनादि और अनन्त है। तात्पर्य कि योग्य (अधिकारी) व्यक्तियों को अनुभूति होती आई है, होती है और होती रहेगी। आंग्ल भाषा में इसको 'रिविलेशन' कहते हैं।

एतादृश ही 'तन्त्र' भी है। 'तन्त्र' वेद्य और वाचक दोनों की संज्ञा है। यह भी 'रिविलेशन' या अनुभव की व्यक्ति है। 'तन्त्र' मुख्यतया तीन हैं—१ परमेश्वर-तन्त्र या विश्व-तन्त्र, २ ईश्वर-तन्त्र या ब्रह्माण्ड-तन्त्र और ३ जीव-तन्त्र या पिण्डाण्ड-तन्त्र। इन सभी की सिद्धि मनः-प्रामाण्य सिद्धि-सूत्र से, आत्म-प्रामाण्य सिद्धि-सूत्र या अतीन्द्रिय अवगम सिद्धि-सूत्र आदि से है। अभिव्यक्ति उन्हीं कृतोपासकों को होती है, जिनके आसुर प्राण सम्वर्द्धन-प्रक्रिया के द्वारा दग्ध हो गये हैं और दैव प्राण प्रज्वलित हो उठे हैं। वैसे तो 'इन्टूयशन' या आत्म-स्फुरण दैव प्राण के किञ्चित् सम्वर्द्धन से भी प्राप्य है।

अस्तु, 'वेद' से 'तन्त्र' का पार्थक्य है तो अवश्य, परन्तु सैद्धान्तिक नहीं, कारण वेद से प्रतिपादित परमेश्वर, ईश्वर-गण, उपेश्वर-गण तन्त्र के भी प्रतिपाद्य हैं। वेदों में समास-रूप से इनका प्रतिपादन है, तो क्या हुआ? संज्ञा-भेद या यत्र-तत्र प्रक्रिया-भेद सैद्धान्तिक भेद का ज्ञापक नहीं है। वेदाधिष्ठात्री महाशक्ति वेद-माता गायत्री की ही तान्त्रिकी संज्ञायें हैं काली, तारा, षोडशी, दुर्गा, कौशिकी, चामुण्डा, चण्डी इत्यादि। कारण जिन-जिन लक्षणों से वेद-माता गायत्री उपेता है, वे सभी लक्षण तान्त्रिकी महाविद्याओं में भी हैं। फिर भेद क्या रहा? दार्शनिक दृष्टिकोण से भी विचार करने से एकता सिद्ध हो जाती है। 'वेद' का सिद्धान्त या वेदान्त अद्वैतवादी है। 'तन्त्र' या शाक्त वेदान्त भी अद्वैतवादी ही है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि वेदान्त-सूत्रों की व्याख्यायें अनेक प्रकार की हैं। तात्पर्य कि ब्रह्म-सूत्र की व्याख्या द्वैत-भाव की भी है और विशिष्टाद्वैत-भाव की भी। इससे क्या हुआ? हमें तो महा-

वाक्यों को ही लेना है। 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', 'तत्वमसि', 'ग्रहं ब्रह्मास्मि' ग्रादि महा-वाक्यों का ही सार ग्रहण करना है। यद्यपि तार्किक लोग 'तत्वमसि' वाक्य में भी ग्रड़ङ्गा लगाते हैं कि 'तत्वमसि' वाक्य का ऐसा अर्थ नहीं है कि 'तुम वही हो' ग्रपितु इसका ग्रर्थ यह है कि 'तुम वह नहीं हो'—'ग्रतत् त्वम् ग्रसि'। वल्लभ का ग्रर्थ है 'तुम उससे हो'—'तत् तस्मात् त्वम् ग्रसि'। माधव का है 'तुम उसके हो'—'तत् तस्य त्वम् ग्रसि'। फिर द्वैतवादी का ग्रर्थ है 'तुम उसमें हो'—'तत् तस्मिन् त्वम् ग्रसि'।

ग्रपने अपने वाद (सिद्धान्त) के समर्थन के लिये कामधेनु-रूपी शब्दों के ग्रनेक प्रकार के ग्रर्थ किये गये हैं। परन्तु 'ग्रहं ब्रह्मास्मि', 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' ग्रादि स्पष्ट वाक्यों के सङ्ग समन्वय करने से ही प्रकृत ग्रर्थ का बोध होता है। यह समन्वय पूर्व-मीमांसा के ग्रन्विता-विधान से है, जो तार्किक के अभिहितान्वय का खण्डन करता है।

'तन्त्र' में भी समस्तार्थ-निरूपण ग्रौर शब्द-रूपार्थ-निरूपण है। ग्रपने-ग्रपने क्षेत्र में दोनों की उपयोगिता है, सब जगह नहीं। परन्तु पक्षपातीय दुराग्रह-वश सामञ्जस्य करने में बड़े-बड़े ग्राचार्य भी ग्रसमर्थ हो जाते हैं।

पञ्च-मकार को लेकर ही 'तन्त्र' को 'वेद'-विरुद्ध कहा जाता है। इन पाँचों में से ग्रापत्ति है केवल चार मकारों में अर्थात् मद्य या सुरा, मांस, मत्स्य ग्रौर मैथुन के सम्बन्ध में। कारण मुद्रा, जिसकी वैदिकी संज्ञा पुरोडाश है, निर्दोष मानी जाती है। ग्राक्षेप करनेवाले वही हैं, जिन्होंने 'वेद' का ग्रध्ययन किञ्चित् भी नहीं किया है। इस हेतु वेदों से दृष्टान्त देना ग्रावश्यक है।

सर्व-प्रथम मदिरा को लेते हैं ग्रौर लेते हैं ग्राधिदैविक दृष्टिकोण से, ग्राध्यात्मिक दृष्टिकोण से नहीं। कारण जन-साधारण को इसके आध्यात्मिक या सूक्ष्म रूप की ग्रावश्यकता नहीं है। प्राथमिक साधकों के लिये जिस प्रकार उपासना के प्रतीक उपयोगी हैं, वैसे ही उपचारों के प्रतीक भी उपयोगी हैं। शास्त्रों में इसी हेतु योग्यता या ग्रधिकारिता के भेद पर निर्देश दिये गये हैं। जो स्थूल रूप की कल्पना के ग्राधार पर उपासना करते हैं, उनके लिये उपचारों के स्थूल रूप ही हितकर हैं। रूपातीतावस्था में चले जाना ग्रासान नहीं है। जब तक मन शुद्ध न हो, तब तक रूप के ग्राश्रय को छोड़ना ठीक नहीं है। योग-वाशिष्ठ, जिसका ग्रपर नाम है ज्ञान-वाशिष्ठ, कहता है कि मन जब तक प्रसन्न न हो जाय, तब तक सकाम उपासना करो—

'साकारं भज तावत् त्वं यावत् सत्वं प्रसीदति'—निर्वाण प्र०पू० ६। ३५।

आकार नाम है रूप का। जब इष्ट का रूप माना, तब उपचारों के भी रूप मानने होंगे। इस प्रकार उपासना करते-करते हम जब सर्वोच्च कक्षा में पहुँचेंगे, तब इष्ट का भी वासनात्मक रूप पकड़ पायेंगे ग्रौर उसकी पूजा भी वासनात्मक उपचारों से ही करनी होगी।

'वेद' यज्ञ-प्रधान शास्त्र है। यज्ञ कई प्रकार के होते हैं। परन्तु मुख्य भेद दो हैं—एक अग्नि में अग्नि-पञ्च-चिति वाला और दूसरा ग्रग्नि साम की ग्राहुति वाला। यही सोम-यज्ञ है। फिर है हविर्यज्ञ, जिसके ग्रन्तर्गत सौत्रामणि यज्ञ है, जिसमें सुरा-पान निर्दिष्ट है—'सौत्रामण्यां सुरां पिबेत्।' सुरा-पान की प्रशंसा, विधि इत्यादि लाटचायन श्रौत सूत्र, कात्यायन श्रौत सूत्र, सांख्यायन ग्रौर ग्रापस्तम्ब श्रौत सूत्र में कही गई है। ऋग्वेद १—११६—७ में ऋषि कक्षियान् ने सुरा की प्रशंसा का गान गाया है। शतपथ (६—६—३—७) कहता है कि सोम की ग्राहुति ही परमाहुति है।

इस सबसे स्पष्ट निर्विवाद-रूपेण सिद्ध है कि वेद सुरा-पान—नियन्त्रित सविधि सुरा-पान का ग्रनुमोदन ही नहीं, अपिच स्पष्ट निर्देश भी करता है। फिर ग्रगर 'महाजनो येन गतः स पन्था' की नीति के आधार पर विचार करें, तो भी ऐसा ही सिद्ध

है। भगवान् रामचन्द्र को मर्यादा-पुरुषोत्तम कहते हैं। वह भी मांस खाते थे और मधु-पान करते थे। तभी भगवती सीता के विरह-वियोग में राम ने मधु-सेवन छोड़ा था। इसकी सूचना हनुमान ने इन शब्दों में दी है—

न मांसं राघवो भुंक्ते न चैव मधु सेवते ।। १४
सुन्दर-काण्ड, ३६वाँ सर्ग।

अगर कोई यह आपत्ति करे कि 'मधु' से 'सुरा' का नहीं प्रत्युत मक्षिका-मधु (शहद) का तात्पर्य है तो उन्हें भगवती सीता की उक्ति (वा०रा० अयोध्या-काण्ड ५ । ८९) देखनी उचित है। उक्ति है कि वनवास से कुशलपूर्वक घर लौट आने पर हे गङ्गे! तुम्हारी पूजा हजार घट सुरा से, मांस इत्यादि से करूँगी—

सुरा-घट-सहस्रेण मांस-भूतौदनेन च।
यक्ष्ये त्वां प्रीयतां देवि (गङ्गे) पुरीं पुनरुपागता ।।

भगवान् कृष्ण जी पूर्णावतार आदर्श पुरुष माने गये हैं। इन्होंने गीता में अर्जुन को आदर्श होने का उपदेश इन शब्दों में दिया है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
सद्यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।।

बड़े लोग अर्थात् विवेक में बड़ जैसा करते हैं, वैसा ही जन-साधारण करते हैं। वह जैसा प्रमाण (आचरण द्वारा) रखते हैं, लोग उसी का अनुवर्तन करते हैं। अध्याय ३, श्लोक २१)

ये भ० श्रीकृष्ण भी सुरा-पान करते थे, जिसकी कथायें महाभारत में हैं। इसी से इनका निशीथ-कालिक ध्यान वैष्णवागम गौतमीय तन्त्रम् में ऐसा दिया है—

रात्रौ चेन्मदिराक्रान्त-मानसं देवकी-सुतम्।
रास-गोष्ठी-परिज्ञातं गोपी-मण्डल-मध्यगम् ।।
इत्यादि

इन्द्र, गणेश आदि देवों को भी ऋषि-गण यज्ञ में सोम-पान कराते थे। ऋग् वेद की निम्न ऋचा (प्रथमाष्टक, सप्त-विंश वर्ग) पर ध्यान दीजिये—

'ये यजत्रा यईडगस्ते ते पिबन्तु जिह्वया मधोरग्ने वषट् कृति।'

अर्थात् हे अग्नि! जो भी देवता यष्टव्य और स्तुत्य हैं, वे तुम्हारी जिह्वा के द्वारा वषट्कार-युक्त योग में मधु अर्थात् सोम-भाग का पान करें। ('मधु' का अर्थ 'सोम' हमारा किया नहीं वरन् भाष्यकार का किया है—'हे अग्ने! ते त्वदीयया जिह्वया मधोर्मधुरस्य सोमस्य भागं पिबन्तु।'

अब अगर यह कहा जाय कि वैदिक युग में सोम-पान 'जायज' था, पर अब नहीं। तो स्मार्त युग के लिये मनु का स्पष्ट निर्देश है कि सोम अर्थात् मद्य-पान में दोष नहीं है—

'न मांस-भक्षणे दोषो न मद्ये न च मैथुने'।

—५।५६।

हमारे समय में मनु-स्मृति के अनुसार ही धर्मा-चरण की व्यवस्था चल रही है। अतः मनु के इस वाक्य का निर्देश 'अपटुडेट' है। मनु के निषेधात्मक वचनों का तात्पर्य है असंशोधित एवं अनिवेदित सुरा से। यह नियम मांस-भक्षण में भी समानतया लागू है। 'वेद' और 'तन्त्र' दोनों समान रूप से अविहित सोम-पान का निषेध करते हैं।

यह तो हुई शास्त्र-विवेचना। अब सामान्य बुद्धि से ही विवेचना हो। मद्य से तात्पर्य है मादक द्रव्य का। मद अर्थात् अहङ्कार ले आने और बढ़ानेवाला द्रव्य। इस अर्थ में मद्य धन भी है, जिससे कहा गया है—

'कनक (सोना, धन) कनक (धतूरा) तें सौ गुना मादकता अधिकाय; वह खाये बौरात है, यह पाये बौराय।'

फिर यह भी कहा गया है—'विद्या विवादाय धनं मदाय......।'

अपरा विद्या भी 'मद' है। अहङ्कारी होकर ही मनुष्य विवाद-परायण होता है। इस अवस्था में धन और विद्या मद्य-रूप हैं। इनका त्याग कौन करता है? फिर भाँग, गाँजा, इत्यादि भी तो मद्य ही हैं–

'सम्विदा (भाँग) सवयो (मद्यों में) र्मध्ये सम्विदैव गरीयसी' अर्थात् मादक द्रव्यों में सबसे बड़ी भाँग है। सिनेमा देखना, ताश-शतरंज खेलना, पान खाना, सिगरेट पीना भो नशा है। यह सभी जानते हैं।

इस दोष का परिहार 'वेद' और 'तन्त्र' ने केवल दो शब्दों में किया है कि जिस द्रव्य के सेवन से बुद्धि भ्रष्ट हो, मन चञ्चलतम हो, उसका सेवन अनुचित है। अविचार कर्म करना ही बुरा है, यह नियम सर्वत्र लागू है। इसी से कहा गया है कि अमृत भी विष हो जाता है और विष भी अमृत हो जाता है–
'अमृतोऽपि विषायते च विषोऽप्यमृतायते।'

इस पक्षपात रहित विवेचना से सिद्ध है कि प्रथम मकार 'मद्य' के सम्बन्ध में 'वेद' और 'तन्त्र' में पूरी एकता है। अब दूसरे और तीसरे मकार अर्थात् मांस तथा मत्स्य के सम्बन्ध में देखें कि ये दोनों वेद में हैं कि नहीं।

विपक्षी अज्ञान-वशतः अथवा पक्षपात-वशतः अहिंसा के प्रकृत अर्थ को न समझ कर याज्ञिक हिंसा या बलिदान को वेद-विरुद्ध बतलाते हैं। वेदों में तो और पशुओं की क्या कथा, गो (बैल) पशु की बलि का भो विधान है। इसी को गो-मेध कहते हैं। यदि विपक्षी लोग कष्ट कर कात्यायन श्रौत सूत्र, शतपथ ब्राह्मण (३—३-४) (३—८—१), हिरण्यकेशीय गृह्य-सूत्र इत्यादि देखें, तो उनकी भ्रान्ति दूर हो जायगी। अधिक क्या, नर-बलि तक की व्यवस्था वेदों में है। देखिये तैत्तरीय ब्राह्मण (३—४—१)।

मनु-स्मृति, जो सभी स्मृतियों में श्रेष्ठ है क्योंकि वह पूर्णतः श्रुति-प्रधान है, क्या कहती है, यह भी विचारणीय है। यह स्पष्ट शब्दों में कहती है कि ब्राह्मण भी मांस को संशोधित कर यथाविधि उसे खा सकते हैं—

'प्रोक्षितं भक्षयेन्मांसं ब्राह्मणानां च काम्यया।
यथाविधि नियुक्तस्तु प्राणानामेव चात्यये॥'
—मनु ५।२७

शोधन या संस्कार होता है मन्त्रों से (जैसी तान्त्रिकी विधि है)। असंशोधित मांस अनर्पणीय एवं अग्राह्य है। जैसा तन्त्र का भी निर्देश है—
'असंस्कृतान् पशून् मन्त्रैर्नाद्याद् विप्रः कदाचन।
मन्त्रैस्तु संस्कृतानद्याच्छाश्वतं विधिमास्थितः॥
—मनु ५।३६।

इतना ही नहीं, ऐसा भी निर्देश है कि न्यायतः नियुक्त अर्थात् निर्दिष्ट कर्मों में अर्थात् पितृ-देव-यज्ञों में यथाविधि जो मांस नहीं खाता है, वह इक्कीस बार पशु-योनि में जन्म लेता है—

नियुक्तस्तु यथा-न्यायं यो मांसं नात्ति मानवः।
स प्रेत्य पशुतां याति सम्भवानेक-विंशतिम्॥
—मनु ५।३५।

यह तो हुई विवेचना उन शास्त्रों के वचनों के आधार पर, जिनको विपक्षी भी मानते होंगे। अब सामान्य बुद्धि से भी विचार कर लें। भौतिक विज्ञान अब कह रहा है कि विश्व प्राणों वा जीवों से बना है। इन जीवों का अस्तित्व जीव से ही है अर्थात् जीव-रूपी अन्न (भक्ष्य) के भक्षण द्वारा ही है। यह सिद्धान्त बहुत पहले का है। मनु ने सृष्टि के आदि में कहा है कि प्राण का भोजन है समस्त चर और अचर—

'प्राणस्यान्नमिदं सर्वं प्रजापतिरकल्पयत्।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वप्राणस्य भोजनम्॥'
—मनु ५।२८।

इसी सिद्धान्त पर मनु की उक्ति है—

नात्ता दुष्यत्यदन्नाद्यान् प्राणिनोऽहन्यहन्यपि ।
धात्रैव सृष्टा ह्याद्याश्च प्राणिनोऽत्तार एव च ।।
--मनु ५ । ३०

अर्थात् भक्षण-योग्य जीवों का नित्य भक्षण करनेवाला दूषित नहीं होता, कारण धाता (विधाता) ने ही भोक्ताओं के भक्ष्यों की सृष्टि की है।

इस विधि (ब्रह्मा) के विधान को कोई भी बदल नहीं सकता। सभी पदार्थ--क्या भक्ष्य, क्या पेय कीटाणु-मय हैं। ये कीटाणु वस्तुतः जीव ही हैं। अन्न, फल, मूल, कन्द आदि प्राण-मय हैं। इनके भक्षण में असंख्य जीवों की हिंसा होती ही है। मान लिया कि 'हम जल पीकर ही रहेंगे।' फिर भी जल के कीटाणु की हिंसा होगी ही। मान लिया कि अन्न, जल का त्याग किया, पर हवा के विना कैसे रहेंगे ? हवा भी कीटाणुओं से भरी है। श्वास लेकर भी हम असंख्य कीटाणुओं को खाते ही रहेंगे। तब भी अहिंसक नहीं हुए। कुछ देर के लिये मान लें कि हम पूर्ण श्वास-निरोधी योगी हैं। फिर भी हमारे भीतर जो कीटाणु हैं, वे दुर्बल कीटाणु को खायेंगे ही। इसके बिना शरीर (आर्गेनिज्म) रह नहीं सकता। कुछ दिनों के बाद शरीर में के कीटाणु शेष हो जायेंगे और हम मर जायेंगे। ऐसी परिस्थिति में हम अहिंसक कैसे बन सकते हैं?

मांस की कोटि में 'सेल्स' और 'मालिक्यूल्स' भी हैं। प्राण ही प्राण का प्राण या रखनेवाली शक्ति है। तभी न मनु ने कहा है कि जहाँ तिल, धान्य, यव, माष, मूल, फलों से पितृ-गणों को एक मास तक तृप्ति रहती है, वहाँ मछली के मांस से दो मास, हरिण के मांस से तीन मास, मेढ़े के मांस से चार मास, द्विजाति-भक्ष्य पक्षी-मांस से पांच मास, छाग-मांस से छः मास इत्यादि वार्ध्रीणस के मांस से बारह वर्ष तृप्ति होती है। (देखिये मनुस्मृति-तृतीय अध्याय, २६७ से २७१ श्लोक)।

इसी प्रकार तन्त्र-शास्त्र कहता है कि अठारह प्रकार के मत्स्य और कच्छप से एक मास भगवती चण्डी तृप्त रहती है। इसी प्रकार किस पक्षी और किस पशु के बलि देने से भगवती कितने मास और कितने वर्ष तृप्त रहती है, यह भी कहा गया है। तात्पर्य कि व्यष्टि प्राण-शक्ति और समष्टि प्राण-शक्ति का सम्वर्द्धन करनेवाल मांस-भक्षण अवश्य है, ऐसा सिद्ध है।

कुछ प्राकृतिक विज्ञान का हवाला देकर इस अन्न को प्रकृति के विरुद्ध बतलाते हैं। नाना मुनि के नाना मत ! जिसको जिससे लाभ हो, वैसा करे। अवस्थिति अर्थात् देश-काल-पात्र आदि के अनुसार एक ही वस्तु उपयोगी और अनुपयोगी दोनों है। साधारणतया भोजन मान-पूर्वक (बैलेन्स्ड फूड) रहे, ऐसा विज्ञान का भी सिद्धान्त है।

एक मत है कि मांस-मछली मत खाओ, अण्डे खाओ। क्या इसमें जीव-हिंसा नहीं आती ? भ्रूण-हत्या का दोष इसमें भी है। स्वास्थ्य के लिये यह उपयोगी है, पर हिंसा की कसौटी पर परखने से अण्डे को पकाकर वा उबाल कर खाना हिंसा अवश्य है। ऐसे मनगढ़न्त सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन करने की आवश्यकता नहीं है। हमें तो अपने पूर्वज ऋषियों की अनुभूति पर चलना है।

'वेद' का प्रकृत अर्थ है अनुभूति। जिससे अनुभूति हो, वह है वेद-शास्त्र, तन्त्र-शास्त्र, योग-शास्त्र। अनुभूति है सत्य-'रिऐलिटी'। एक वस्तु की अनुभूति में भेद नहीं हो सकता। हाँ, प्रक्रिया ('फार्मूला') में भेद हो सकता है। कर्म-काण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञान-काण्ड वेद और तन्त्र में एक ही मौलिक आधार हैं। तो फिर तन्त्र किस प्रकार वेद-विरुद्ध हुआ ? तन्त्र को पञ्चम वेद तक कहा है। नारायणी तन्त्र में वेदों की उत्पत्ति तत्राङ्ग यामलों से बताई गई है कि ब्रह्म-यामल से साम-वेद, रुद्र-यामल से ऋग्वेद विष्णु-यामल से यजुर्वेद और शक्ति-यामल से अथर्वण निकले हैं--

ब्रह्म-यामल-सम्भूतं साम-वेद-मतं शिवे।
रुद्र-यामल-सञ्जात ऋग्वेदो परं महान् ।।
विष्णु-यामल-सम्भूतो यजुर्वेदः कुलेश्वरि।
शक्ति-यामल-सम्भूतं अथर्वं परमं महत् ।।

'तन्त्र' का अर्थ है विज्ञान अर्थात् जिस विशेष ज्ञान से उद्देश्य की प्राप्ति हो। सुतरां 'तन्त्र' जब विज्ञान है, तो विज्ञान को 'तन्त्र' कह सकते हैं। विज्ञान वा ज्ञान का अन्त नहीं है। इसी सिद्धान्त के आधार पर कहा गया है कि 'तन्त्र' असंख्य हैं। फिर जिस प्रकार वेद और वेद-शास्त्र में तथा योग और योग-शात्र में भेद है, उसी प्रकार तन्त्र और तन्त्र-शात्र में भेद है। ज्ञान है वेद और जिससे ज्ञान होता है, वह भी वेद है। योग है ऐक्य और जिससे ऐक्य होता है, वह भी योग है। इसी प्रकार 'तन्त्र' है मन्त्र-शक्ति और यन्त्र-शक्ति आदि से काम करने की युक्ति। इसकी पद्धतियाँ ही तन्त्र-शास्त्र है। युक्तियाँ हैं विज्ञान अर्थात् वि = विशेष वा विशिष्ट ज्ञान।

विज्ञान वा विद्या कला भी है और कला-प्रसूतिनी भी है। विज्ञान (साइंस) और कला (आर्ट) में भेदाभेद है। तात्पर्य यह है कि विज्ञान का रूपान्तर अवस्था-भेद से कला है। विज्ञान के बिना कला नहीं और कला के बिना विज्ञान का कोई अर्थ नहीं। इसको इस प्रकार समझ सकते हैं कि रसगुल्ला बनाने का ज्ञान एक विज्ञान है और बनाना कला है। अगर रसगुल्ला बनाने का ज्ञान न हो, तो हम उसे बना नहीं सकते। फिर बनाकर खाया नहीं, तो बनाने का ज्ञान निरर्थक हो जाता है। सुतरां वेद-शास्त्र, योग-शास्त्र व तन्त्र-शास्त्र के ज्ञान से यदि क्रमशः विद्या, योग वा मन्त्र-शक्ति से काम न लिया, तो सब ज्ञान निरर्थक हैं।

ज्ञान दो प्रकार के हैं—एक प्रत्यक्ष और दूसरा अप्रत्यक्ष वा काल्पनिक। काल्पनिक ज्ञान सत्य भी हो सकता है और असत्य भी—पूर्णतः वा अंशतः। किन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान का आधार है काल्पनिक ज्ञान। आधुनिक विज्ञान—जीव विज्ञान, रसायन-विज्ञान, भूत-विज्ञान (फ़िज़िक्स) आदि इसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। भूत-विज्ञान का ज्ञाता इस विषय को समझता है कि किस प्रकार विज्ञान के प्रत्येक विभाग में तत्-तत्कालिक ज्ञान से अनुमान कर-कर अनुसन्धान द्वारा सिद्धान्त बना लिए गए। इसका एक ही दृष्टान्त पर्याप्त है।

पाश्चात्य विज्ञान का जो एक-तात्विक सिद्धान्त है उसकी घोषणा सर्व-प्रथम इटली देश-वासी गिआरडेनो ब्रूनो ने अनुमान कर की थी, जिसका परिणाम यह हुआ कि उसे जीतेजी जला दिया गया। उस समय पाश्चात्य विज्ञान अंकुरित मात्र हो रहा था। इसके पश्चात् गेलिलो और उनके पश्चात् न्यूटन ने सम्बन्ध-सिद्धान्त (प्रिंसिपल आफ़ रिलेटिविटी) से एक वाद की सिद्धि की। इसमें जो त्रुटि रही, उसकी पूर्ति डा० एल्बर्ट एन्-स्टाइन ने की। इन्होंने प्राचीन (क्लासिकल) भूत-विज्ञान के कलेवर को ही बदल डाला। आज तक का सर्व-मान्य न्यूटन का 'ला आफ़ ग्रेविटेशन' बदल गया। जहाँ न्यूटन के अनुसार 'ग्रेविटेशन' एक प्रकार की शक्ति माना गया था, वहाँ एन्-स्टाइन ने अपनी 'यूनिफ़ाइड फ़ील्ड थ्योरी' में 'ग्रेविटेशन' की विशेष शक्ति का न होना सिद्ध किया।

कहाँ तक कहा जाय, 'क्लासिकल फ़िज़िक्स' के सभी सिद्धान्तों के कलेवर बदलते गए हैं, केवल 'सेकेण्ड ला आफ़ थरमोडाइनेमिक्स' नहीं बदला है। यह सिद्धान्त है विश्व के लय का, परन्तु इसके विपरीत कुछ ऐसे अनुमान हैं कि विश्व (यूनिवर्स) में कहीं मनुष्य के ज्ञान के परे पदार्थों की सृष्टि हो रही होगी अर्थात् 'एलेक्ट्रोन' से 'एटम', एटम से 'मोलेक्यूल' और मोलेक्यूल से 'नेवली' (नक्षत्र-लोक) आदि बन रहे हैं। परन्तु यह सब अभी तक अनुमान ही है। डा० एन्स्टाइन के 'मॉस' और शक्ति की समानता (इक्वीबैलेंस) के सिद्धान्त से ऐसा समझा जा सकता है। जिस प्रकार अनुसन्धान के किसी प्रयोग से पृथ्वी की गति सिद्ध नहीं होती है, न अभी तक हुई है, उसी प्रकार किसी प्रयोग द्वारा 'सेकेण्ड ला आफ़ थरमोडाइनेमिक्स' का खण्डन भी सिद्ध नहीं हुआ है। तात्पर्य यह है कि भूत-विज्ञान में नए-नए गुल खिलने लगे हैं।

ये नये गुल जो खिलने लगे हैं, वे पाश्चात्य वैज्ञानिकों के लिए ही हैं, हम लोगों के लिए नहीं। हमारे तन्त्र-विज्ञान, जो वेदों के समान अनादि काल के हैं अर्थात् जिनके जन्म-काल का पता नहीं है, ठीक वही बातें कहते हैं, जो आज पाश्चात्य विज्ञान कह रहा है। यथा – एक बिन्दु से सृष्टि का होना। बेलजियम देश के एक प्रसिद्ध 'कास्मोलॉजिस्ट' आवेले मैत्र का सिद्धान्त है कि एक महत् आदि-बिन्दु के फटने से विश्व बना है। वाशिंगटन विश्व-विद्यालय के प्रसिद्ध वैज्ञानिक डा० जार्ज गामो इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए विस्तार-पूर्वक बताते हैं कि किस प्रकार विश्व-निर्माण से पूर्व अवर्णनीय ज्वाला से सभी विश्व-निर्माण-कारिणी तत्वावलि बनी; इस महती ज्वाला में अणु क्या, परमाणुओं का भी पता नहीं था, केवल एक प्रकार के स्वच्छन्द विद्युत्-कण 'न्यूट्रोन' की धारा का प्रवाह था। इस ज्वाला की तुलना हमारे सूर्य-मण्डल की अन्तर्ज्वाला से भी नहीं हो सकती। कारण सूर्य के अन्तर की गरमी केवल चार करोड़ डिगरी है, पर उस समय की गरमी का अनुमान भी नहीं किया जा सकता, जिसमें पर्याप्त कमी होने पर सूर्य आदि असंख्य नक्षत्र बने।

'तन्त्र' में उस आद्या शक्ति की ज्योति के सम्बन्ध में केवल यही कहा गया है कि कोटि-सूर्य-प्रकाशा है अर्थात् असंख्य सूर्यों की एकत्रित ज्योतिवाली है। सुतरां इसकी गरमी का अनुमान ही नहीं किया जा सकता। उस काल में यह आद्या शक्ति अकेली थी। दिशा वा दिक्-शक्ति वा सदाशिव प्रेत हो रहे थे और काल-शक्ति वा महा-काल (तन्त्रोक्त ध्यान के अनुसार) चुप पड़े थे—

'अवष्टभ्य पद्भ्यां शिवं भैरवं च।'

इसको वैज्ञानिक शब्दों में इस प्रकार कह सकते हैं कि आद्या शक्ति है 'इनर्जी क्वाण्टा'। आदि अवस्था वा महा-प्रलय-काल है 'मैक्सिमम एण्ट्रोपी'। इसकी प्रधान दो शक्तियाँ हैं—सदाशिव वा 'ग्रेविटेशन' और महा-काल वा 'एलेक्ट्रो मेग्नेटिज्म'। 'ग्रेविटेशन' को 'पावर आफ़ कान-फ़िगरेशन' कह सकते हैं। ये दोनों वस्तुतः एक हैं। इसको डा० एन्स्टाइन भी पहले सिद्ध नहीं कर सके। इन्होंने बाद में प्रस्तुत अपने सम्बन्ध-सिद्धान्त (जनरल रिलेटिविटी प्रिंसिपल) से इनकी मूलैकता सिद्ध की है। यह भी तान्त्रिक भेदाभेद का एक सिद्धान्त है।

आद्या मूला शक्ति माँ काली का वर्ण काला कहा गया है। ठीक है, 'इनर्जी क्वाण्टा' की इस विशिष्ट अवस्था में विश्व घोर अन्धकार में व्याप्त रहता है। प्रकाश-शक्ति इस समय निष्क्रिय रहती है। प्रकाश-शक्ति, जिसकी गति एक सेकेण्ड में प्रायः एक लाख छियासी हजार दो सौ चौरासी मील की है, सिमटी रहती है। सूर्य, चन्द्रादि नक्षत्रों का पता नहीं। सर्वत्र घोर अन्धकार का राज्य स्वाभाविक रूप से रहता है।

भगवती आद्या शक्ति को आँखें हैं—सूर्य, चन्द्र और अग्नि। शङ्का हो सकती है कि इनसे प्रकाश था। पर नहीं, नक्षत्र (नेबुली) और आदि प्रकाश का द्योतक सूर्य (गेलेक्टिक सिस्टम) दाहनी आँख में और बाईं आँख में नमी (म्वायश्चर) का द्योतक चन्द्र छिपा है तथा मध्य देश अर्थात् भ्रू-द्वय के मध्य में अग्नि अर्थात् ऊष्मा (हीट) छिपी है। यही 'प्रकाश,' 'ऊष्मा' और 'नमी' जीवन लानेवाले तत्व हैं।

इसी से कहा गया है कि उस समय विश्व में किसी प्रकार का जीवन नहीं रहता। विश्व निःशब्द है, कारण तनिक भी स्पन्दन कहीं नहीं है। स्पन्दन हो कैसे ? भगवती निश्चला है मुण्ड-माला पहनकर। ये मुण्ड कटे हैं, सुतरां किसी प्रकार की ध्वनि नहीं कर सकते। कर्म करने के मुख्य साधन हैं हाथ, सो तो कटे हैं, जिनकी घघरी बना कर भगवती ने पहन रखा है।

उक्त 'क्वाण्टा इनर्जी' का प्रतीक 'तन्त्र' में जिस प्रकार बिन्दु माना गया है, उसी प्रकार पाश्चात्य

विज्ञान ने भी माना है। विन्दु केन्द्र का प्रतीक है। इसके अतिरिक्त इसके सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयात्मक रूप से नहीं कहा जा सकता। विन्दु अपने रूप में अलक्ष्य है, सुतरां अव्यवहार्य होने से अव्यक्त कहा जाता है। इसकी अभिव्यक्ति का जो क्रम विज्ञान बताता है, ठीक वही क्रम कुछ हेर-फेर के साथ 'तन्त्र' में कहा गया है।

विन्दु की पहली व्यक्तावस्था है त्रिकोण। इस त्रिकोण में दिक् (स्पेस) के तीन 'डाइमेंशन' और एक काल 'डाइमेंशन' हैं, जो परस्पर नित्य सम्बद्ध हैं। एक ही त्रिकोण बनकर नहीं रह जाता। कारण, गति एक ही त्रिकोण बनाकर नहीं रह जाती क्योंकि सभी प्रकार की गति-शक्तियों का मूल 'एलेक्ट्रो मेग्नेटिज़्म' अनेक प्रकार की गति लेता है। इस कारण अनेक त्रिकोण बनते हैं। श्रीयन्त्र अर्थात् विश्व-रूपिणी षोडशी भगवती के यन्त्र में यही सिद्धान्त दिखलाया गया है।

आद्या के यन्त्र में केवल पाँच त्रिकोण हैं। कारण, यह आदि अवस्था के लिए है। आदि में आकाश का वाष्प (वेपर) ही दिक् (स्पेस) में था। फिर वायु हुआ। इसने आकर अपनी एक प्रकार की गति (वेलोसिटी) द्वारा अग्नि-तत्व अर्थात् गरमी उत्पन्न की। गरमी ने जल-तत्व वा द्रव (लिक्विड) तत्व उत्पन्न किया। इस द्रव पदार्थ की गरमी पर्याप्त मात्रा में कम होने पर पृथ्वी-तत्व वा ठोस पदार्थ बना। कई करोड़ वा अरब वर्षों तक यही दशा रही। फिर दिक् (स्पेस) अर्थात् सदाशिव की 'ग्रेविटेशन'-शक्ति और महा-काल वा 'एलेक्ट्रो मेग्नेटिज़्म' ने अनेकानेक तत्वों (एलीमेण्ट्स) की सृष्टि की। इसी के द्योतक श्रीयन्त्र के इतने त्रिकोण हैं।

त्रिकोण के बाहर वा पश्चात् जो वृत्त है, वह शक्ति की 'रेडिएशन' का द्योतक है। इस वृत्त पर जो दल हैं, वे शक्ति के विभागों (सेक्शंस) के द्योतक हैं। दर्शन के सिद्धान्त से वे भाव-विभाग (थाट-सेक्शंस) हैं। सबके पश्चात् भूपुर विश्व की सीमा होने से शक्ति-गति-क्षेत्र (फ़ील्ड आफ़ फोर्स) है। पाश्चात्य विज्ञान पहले विश्व को असीम मानता था, परन्तु एन्-स्टाइन ने गणित से सिद्ध किया कि 'स्पेस' सीमित है, पर घिरा हुआ नहीं है।

यहाँ स्वतः शङ्का होती है कि 'स्पेस' की सीमा के बाद कुछ तो होगा। पर यह भी 'कुछ तो होगा' निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। मार्क्स प्लेङ्क की 'क्वाण्टम थ्योरी' ने 'क्लासिकल फ़िज़िक्स' के कारण-वाद (काज़ेलिटी) और निश्चयत्व (डिटरमिनेशन) का खण्डन कर दिया है। 'प्रिंसिपल आफ़ अनसर्टेण्टी' जब सिद्ध करता है कि एक विद्युत्-कण (एलेक्ट्रोन) की व्यवस्थिति (पोज़ीशन) और गति-शक्ति (वेलासिटी) का एक ही समय ज्ञान नहीं हो सकता है, तो विश्व का ज्ञान—निश्चित ज्ञान असम्भव नहीं, तो क्या है? कारण प्लेङ्क का 'कांस्टेण्ट' पूर्णतया ज्ञेय नहीं है क्योंकि 'वेलासिटी' का जितना ही ज्ञान गणना द्वारा होता है, उतना ही इसकी व्यवस्थिति का अज्ञान बढ़ जाता है।

इससे भी 'तन्त्र' के सिद्धान्त के अनुसार मूला शक्ति का अचिन्त्य और अमित आकार का होना सिद्ध होता है। इस अज्ञान के लिये मनुष्य का विज्ञान दोषी नहीं है। भगवती की लीला जानी नहीं जा सकती। विज्ञान भी इस सिद्धान्त के अनुसार कहता है कि अणु के लीला-मय व्यवहार का दोष मनुष्य के स्थूल साधनों पर नहीं मढ़ा जा सकता (दि एलीमेन्ट आफ़ कैप्रिस इन एटामिक बिहेवियर कैन नाट बी ब्लेम्ड आन मैन्स कोर्स ग्रेण्ड इम्प्ली-मेण्ट्स)।

'तन्त्रों' की यह उक्ति कि स्वयं वही अपने को जानती है, दूसरा कोई भी उसे नहीं जान सकता, विज्ञान से भी सिद्ध है। विज्ञान स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करता है कि ज्यों-ज्यों गणित के साधन बढ़ते हैं, त्यों-त्यों ज्ञेय दूर होता जाता है। सत्य पदार्थ का ज्ञान तो होता नहीं, केवल क्यों होता है और किस प्रकार होता है, इसका आंशिक ज्ञान

प्राप्त होता है। इस ज्ञान के लिये विज्ञान अब भौतिक सीमा से ऊपर उठकर आधिदैविक (मेटा-फ़िज़िकल वा स्पिरिचुअल) क्षेत्र में जाना आवश्यक समझता है। तन्त्र का भी यही सिद्धान्त है।

'तन्त्र' के चेतना-सिद्धान्त को विज्ञान नहीं मानता था। विश्व का मूल चेतना वा चिति-शक्ति है, यह तांत्रिक सिद्धान्त है। विज्ञान चेतना (कांशस) को आदि मानकर 'मेकेनिकल' वा 'केमिकल' संयोग से उत्पन्न मानता रहा। इसलिये सत्य पदार्थ से अज्ञात रहा। पर अब बड़े-बड़े वैज्ञानिकों को चिति-शक्ति का आभास मिलने लगा है। डा० एन्स्टाइन का कथन है—'अचिन्त्य की धारणा से ही, जो सत्य विज्ञान की शक्ति है, प्रगाढ़ सुन्दरता का हृदय-ग्राही अनुभव होता है।' इसी के आधार पर लिकान वार्नेट ने कहा है कि दुनियाँ समझती है कि डा० एन्स्टाइन अनीश्वर-वादी (एथीस्ट) हैं, पर नहीं, वे महा-चिति को विश्व का मूल मानते हैं।

डा० एन्स्टाइन अपने उक्त विश्वास को वैज्ञानिक प्रणाली से सिद्ध करने के पूर्व ही इस पार्थिव जगत् से चल बसे। उनका यह उत्तरदायित्व उनके अनुयायी अनेक वैज्ञानिकों पर पड़ा है। उनके सफलता प्राप्त करने पर तन्त्र-विज्ञान की सत्यता और भी अधिक सिद्ध होगी और तब 'तन्त्र' के निन्दकों की महती भ्रान्ति दूर हो जायगी।

तन्त्र

[१] 'तन्त्र' की विशेषता

वेद, उपनिषद्, गीता, रामायण, महाभारत, पुराण के जाननेवाले बहुत लोग दिखलाई पड़ते हैं, परन्तु 'तन्त्र' के जाननेवाले अथवा तान्त्रिक साधक बिरले ही हैं। इसका कारण यह है कि तान्त्रिक इने-गिने हैं और जो हैं भी, वे अपने को गुप्त रखते हैं। संस्कृत के धुरन्धर विद्वान् भी तन्त्र-ग्रन्थ नहीं पढ़ते हैं, क्योंकि उनकी धारणा यह है कि 'तन्त्र' जादू-विद्या है—पञ्च-मकार की साधना है और श्मशान की शव-साधना की विधि से पूर्ण है। बस, इसी विश्वास से वे तन्त्रों का अध्ययन तक नहीं करते।

ऐसे तो 'तन्त्र' शब्द के अर्थ बहुत हैं। परन्तु हमारा 'तन्त्र' एक शास्त्र-विशेष है। यह वेदों की एक शाखा है। वाराही तन्त्र इस शास्त्र को "आगम" कहता है। यह शास्त्र मुख्यतः तीन श्रेणियों में विभक्त है यथा—१ आगम, २ यामल और ३ तन्त्र।

आगम—सृष्टि, प्रलय, देवों की पूजा, सभी की साधना-विधि, पुरश्चरण, षट्-कर्म-साधन और चतुर्विध ध्यान—ये सात लक्षण आगम के हैं। यथा—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च॥
षट्-कर्म-साधनं चैव ध्यान-योगश्चतुर्विधम्।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद्विदुर्बुधाः॥

तन्त्र—सृष्टि, प्रलय, मन्त्र-निर्णय, देवताओं का संस्थान, तीर्थ-वर्णन, धर्म, विप्र-संस्थान, भूतादिकों का संस्थान, यन्त्र-निर्णय, विबुधों की उत्पत्ति, तरुओं की उत्पत्ति, कल्प-वर्णन, ज्योतिष-संस्थान, पुराणाख्यान, कोष-कथन, व्रत-कथा, शौचाशौच-वर्णन, स्त्री-पुरुष का लक्षण, राज-धर्म, दान-धर्म, युग-धर्म, व्यवहार और आध्यात्मिक विषयों का वर्णन—ये लक्षण तन्त्र के हैं। यथा—

सर्गश्च प्रति-सर्गश्च मन्त्र-निर्णय एव च।
देवतानाञ्च संस्थानं तीर्थानाञ्चैव वर्णनम्॥
तथैवाश्रम-धर्मञ्च विप्र-संस्थानमेव च।
संस्थानञ्चैव भूतानां यन्त्राणाञ्चैव निर्णयः॥
उत्पत्तिर्विबुधानाञ्च तरूणां कल्प-संज्ञितम्।
संस्थान ज्योतिषाञ्चैव पुराणाख्यानमेव च॥
कोषस्य कथनञ्चैव व्रतानां परि-भाषणम्।
शाचाशौचस्य चाख्यानं नरकाणाञ्च वर्णनम्॥
हर चक्रस्य चाख्यानं स्त्री-पुंसोश्चैव लक्षणम्।
राज-धर्मो दान-धर्मो युग-धर्मस्तथैव च।
व्यवहारः कथ्यते च तथा चाध्यात्म-वर्णनम्॥
इत्यादि-लक्षणैर्युक्तं तन्त्रमित्यभिधीयते॥

यामल—सृष्टि-तत्व, ज्योतिष की कथा, नित्य-कृत्य, क्रम, सूत्र, वर्ण-भेद, जाति-भेद और युग-धर्म ये आठ लक्षण यामल के हैं।

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि तन्त्रों के विषय ऐसे हैं, जिनका अध्ययन अथवा साधन करना कितना उपयोगी है।

हिन्दू-शास्त्र चार भागों में विभक्त है—(१) श्रुति, (२) स्मृति, (३) पुराण और (४) तन्त्र। ये विभाग चार युगों—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि के अनुसार हैं। अर्थात् सत्य-युग में वेद, त्रेता में स्मृति, द्वापर में पुराण और कलि-काल में एक-मात्र 'तन्त्र' ही मनुष्यों के धर्म का आधार है—

कृते श्रुत्युक्त मार्गः स्यात् त्रेतायां स्मृति-सम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कलावगम-सम्भवः॥

महानिर्वाण तन्त्र में महादेव जी ने कहा है—कलिकाल में ब्राह्मणों और क्षत्रियों को पवित्रापवित्र का विचार नहीं रहेगा। इस कारण वेद-विहित कर्मों से उन्हें सिद्धि प्राप्त नहीं होगी।.... कलि-काल में आगम-मार्ग को छोड़ कर और कोई मार्ग नहीं है। कलि-युग में तन्त्रोक्त विधान से ही देवताओं की पूजा होगी क्योंकि इस युग में वैदिक मन्त्र विष-हीन सर्प की तरह वीर्य-हीन हो गये हैं, इस कारण तन्त्र ही प्रधान धर्म है—

कलि-कल्मष-दीनानां द्विजातीनां सुरेश्वरि।
मेध्यामेध्याविचाराणां न शुद्धि श्रौत-कर्मणा॥
न संहिताद्यैः स्मृतिभिरिष्ट-सिद्धिर्नृणां भवेत्।
सत्य सत्यं पुनः सत्यं सत्यं सत्यं मयोच्यते॥
बिना ह्यागम-मार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये।
निर्वीर्याः श्रौत-जातीयाः विष-हीनोरगा इव॥
सत्यादौ सफला आसन् कलौ ते मृतका इव।
कलावागमुल्लंघ्य योऽन्यमार्गे प्रवर्तते।
न तस्य गतिरस्तीति सत्यं सत्यं न संशयः॥

सत्य सर्वदा सत्य ही रहता है। सत्य, त्रेता, द्वापर और कलियुग में शास्त्र कहिये, धर्म कहिये, आचार कहिये—सब एक ही थे और एक ही हैं। केवल व्यवहार, शिक्षा अथवा साधन में कुछ भेद है। श्रुति का स्थान निःसन्देह सर्वोच्च है क्योंकि यह अपौरुषेय है अर्थात् इनका कोई कर्ता व रचयिता नहीं है। हमारे ऋषि-मुनियों ने इनको केवल देखा था और पाया था। स्मृति, पुराण और तन्त्र इनके आधार श्रुति ही हैं। वास्तव में ये श्रुति के विशेष रूप हैं, जो प्रत्येक युग के लिये विभक्त हैं। विद्वानों का तो यह मत है कि तन्त्र पञ्चम वेद हैं और श्रुति-शब्द का भी कभी-कभी 'तन्त्र' के अर्थ में व्यवहार होता है। यथा—

"वैदिकी तान्त्रिकी चैव द्विविधा कीर्तिता श्रुतिः।"
—मनु-संहिता (कुल्लूक भट्ट टीका)

'तन्त्र' और श्रुति में विज्ञ-जन कोई भेद नहीं करते हैं। उनका यह कथन है कि तन्त्रों के पढ़ने से ही कलि-युग में वेद-वर्णित आचारों का भली भाँति पालन किया जा सकता है। वेद और 'तन्त्र' का सम्बन्ध ऐसा है, जैसा जीवात्मा और परमात्मा का। 'तन्त्र' को निगम भी कहते हैं—

निर्गतो गिरिजा-वक्त्रात् गतश्च गिरीश-श्रुतीम्।
मतञ्च वासुदेवस्य निगमः परिकथ्यते॥

अर्थात् पार्वती के मुख से निकल कर महादेव के कान में जाता है और वासुदेव उसका समर्थन करते हैं।

'आगम' और 'निगम' शब्द वेद के ही प्रतिपादक हैं। भक्त जन तन्त्रों को वेद के तुल्य ही समझते हैं। उनका यह विश्वास है कि आदि तन्त्र का रचयिता कोई मनुष्य नहीं था, यह शिव-मुख-निःसृत है। आर्थर आवेलन साहब, जिनका नाम जान उडरफ़ था, कलकत्ता-हाईकोर्ट के जज थे। इनका जन्म-स्थान इङ्गलैण्ड है। इन्होंने तन्त्रों का अध्ययन भलीभाँति किया था। इन्होंने बहुत से ग्रन्थ तांत्रिक विषय पर लिखे हैं। कुछ तन्त्रों का अँगरेजी-भाषा में अनुवाद भी किया है और तन्त्र-ग्रन्थों का सम्पादन भी किया है। हमारे देश-वासियों में कम ही लोगों ने तन्त्र-ग्रन्थों का इस प्रकार अध्ययन किया होगा। उनका मत है कि इन ग्रन्थों में पर-ब्रह्म परमात्मा का वर्णन है, सृष्टि और प्रलय का विवरण है, जीवों का वर्गीकरण है, देवताओं की उत्पत्ति और पूजा, ग्रह-नक्षत्रों का विवरण, भिन्न-भिन्न जगतों और नरकों का वर्णन, पुरुष और प्रकृति, मनुष्य-शरीर का चक्र (कुल-कुण्डलिनी आदि), धर्म, आश्रम, संस्कार, मन्त्र, यन्त्र, विविध आध्यात्मिक पूजा की शिक्षा, जप, व्रत, औषधि-विज्ञान व विविध वस्तुओं का समन्वय है। संक्षेपतः ये ज्ञान के विश्व-कोष हैं। ऐसे ग्रन्थों और शास्त्रों का निरादर अथवा निराकरण करना अज्ञानता है।

तन्त्र-शास्त्र का एक विशेषत्व यह है कि तांत्रिक साधन में सभी का अधिकार है, परन्तु वैदिक साधना का अधिकार केवल उच्च वर्णों को ही है। 'तन्त्र' से सभी वर्ण के मनुष्य आत्म-ज्ञान का लाभ उठा

सकते हैं। यदि 'तन्त्र' न होता, तो इस कलि-काल में सर्व-साधारण को कोई ज्ञान प्राप्त न होता और न कोई साधना ही कर सकता। ऐसे ब्राह्मण और क्षत्रिय, जो अपने उच्च संस्कार और विद्या का अभिमान करते हैं, वे भी वैदिक क्रियाओं को उनके कठिन और कष्ट-साध्य नियमों के कारण नहीं कर सकते, परन्तु तान्त्रिक क्रियाओं को सभी समझ और कर सकते हैं। गौतमीय तन्त्र लिखता है—

सर्व-वर्णाधिकारञ्च नारीणां योग्यमेव च।

महानिर्वाण तन्त्र—१४ पटल में लिखा है—

चाण्डालं यवनं नीचं मत्वा स्त्रियमवज्ञया।
कौल न कुर्यात् यः कौलः सोऽधमो यात्यधोगतिम्॥
त्रिपादन्त्यज-पर्यन्ता द्विपदा येऽत्र भूतले।
ते सर्वेऽस्मिन् कुलाचारे भवेयुरधिकारिणः॥

इस प्रकार तन्त्र में सभी का अधिकार है। शास्त्रीय क्रिया-सम्पादन करने के लिये तन्त्र-शास्त्र ही व्यावहारिक-शास्त्र है। इसमें क्रिया और ज्ञान का सम्बन्ध होता है। यह सत्य है कि केवल क्रिया से ही मोक्ष-ज्ञान नहीं प्राप्त होता। मोक्ष-प्राप्ति के लिये साधना का प्रयोजन है।

[२] 'तन्त्र' की ऐतिहासिकता

साधारण मत यह है कि तन्त्र-ग्रन्थ बहुत प्राचीन नहीं और तान्त्रिक मत का प्रचार आधुनिक है। किसी को यह बात ठीक-ठीक नहीं मालूम है कि इस शास्त्र की उत्पत्ति किस समय और कैसे हुई और इसके ग्रन्थ किस समय लिखे गये।

बहुतों का यह कथन है कि प्राचीन स्मृति-संहिताओं में चौदह विद्याओं का उल्लेख है, जिनमें तन्त्र-शास्त्र का नाम तक नहीं है। इस कारण तन्त्र-शास्त्र को गिनती वे प्राचीनतम आर्य-शास्त्रों में नहीं करते हैं। वे यह भी कहते हैं कि तन्त्रोक्त मारणोच्चाटन-वशीकरणादि आभिचारिक क्रियाओं का प्रसङ्ग अथर्व-वेद में मिलता अवश्य है, परन्तु तन्त्रों के अन्यान्य लक्षण अथर्व-वेद में नहीं पाये जाते हैं। इस कारण वे 'तन्त्र' को अथर्व-संहिता-मूलक मानने को तैयार नहीं हैं।

अथर्व-वेद के नृसिंह-तापनीयोपनिषद् में पहले पहल मन्त्र-राज नृसिंह-अनुष्टुप के प्रसङ्ग में 'तन्त्र' के लक्षणों का उल्लेख हुआ है। इस उपनिषद् का एक भाष्य शङ्कराचार्य-कृत भी है। इस कारण पण्डितों का अनुमान है कि यह ग्रन्थ ईसा की ७वीं शताब्दी के पूर्व लिखा गया होगा।

नवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के बीच में बहुत से बौद्ध तन्त्र तिब्बती-भाषा में अनुवादित हुये थे। सभी विद्वानों का कथन है कि बौद्ध-तन्त्र हिन्दू-तन्त्र के अनुकरण पर ही लिखे गये थे। इससे यह सिद्ध होता है कि बौद्ध-तन्त्र ७वीं खृष्टाब्द में और हिन्दू-तन्त्र उससे भी पहले लिखे गये थे।

ऐतिहासिकों का कथन है कि जिस समय चीनी परिव्राजक फ़ाहियान और हुएन सांग भारत आये थे, उस समय के भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों का उन दोनों ने वर्णन किया है, परन्तु उनमें से किसी ने भी तान्त्रिकों का कोई विवरण नहीं लिखा। हुएन सांग ने ७ वीं सदी में बहुत से बौद्ध-शास्त्रों का उल्लेख किया है, परन्तु तन्त्र-शास्त्र के विषय में उसने कुछ भी नहीं लिखा। इससे यह न समझना चाहिये कि तन्त्र-शास्त्र की उत्पत्ति उस समय तक नहीं हुई थी। जब नवीं सदी में भोट-देश में बौद्ध-तन्त्रों का अनुवाद हुआ, तब उससे बहुत पहले ही मूल ग्रन्थों की अवस्थिति रही थी। सम्भवतः उस समय तक इनका विस्तार नहीं हुआ था अथवा गुप्त रक्खे जाते थे।

साधारण मत चाहे जो हो अथवा ऐतिहासिक चाहे जिस प्रकार से विचार करें, भारतीय तन्त्रशास्त्र अति प्राचीन है और वेदात्मक है। वेदों से आरम्भ करके पुराणादि सभी ग्रन्थों में तन्त्रों का परिचय मिलता है। हमारे देश के किसी भी शास्त्र के यथार्थ काल का निर्णय अभी तक न हुआ है और न

आगे हो सकेगा। पाश्चात्य पण्डित सर जान उडरफ़ जो कलकत्ता हाईकोर्ट के जज थे और जिन्होंने तन्त्रों का भलो-भाँति अध्ययन किया था, कहते हैं कि तन्त्रों की उत्पत्ति चाहे जब हुई हो, यह मानना ही पड़ेगा कि साधारण मत भ्रान्त है। उनका यह मत है कि यह अति प्राचीन शास्त्र है और नवीन तन्त्र-ग्रन्थ प्राचीन तन्त्र, जिनका सम्भवतः लोप हो गया है, उन्हीं के आधार पर लिखे गये हैं। एक साहब की उक्ति दिखला कर वे यह सिद्ध करते हैं कि तान्त्रिक मत और पौराणिक कथायें ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी में प्रचलित थीं और ये कथायें एक दिन की नहीं हो सकती हैं। इस कारण ये अवश्य ही खृष्ट तृतीय पूर्वार्द्ध के बहुत पहले की हैं।

वेद से यदि हम लोग देखना शुरू करें, तो यह देखते हैं कि तन्त्र का प्रभाव ऋग्वेद में पर्याप्त है। तारा शक्ति का परिचय हमें ऋग्वेद से ही होता है, जो तन्त्र-शास्त्र को प्रधान शक्ति है और दश-महाविद्या की द्वितोया विद्या हैं। तन्त्र-मत से शिव और शक्ति के मिलन से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है। शक्ति के काली, तारा इत्यादि ८ नाम ऋग्वेद में ही हैं (ऋग्वेद १०–१२५)। देवी-सूक्त मार्कण्डेय-पुराणान्तर्गत चण्डी के देवी-माहात्म्य की तरह शक्ति अथवा देवी की उपासना है। यह तो हुई शक्ति। शिव भी ऋग्वेद में ही हैं। रुद्र शिव का ही दूसरा नाम है। मैकडोनल साहब अपने संस्कृत-साहित्य के इतिहास में ८६ वें पृष्ठ में लिखते हैं कि शिव का अर्थ मंगलमय अथवा मंगलकारी है और रुद्र का यह विशेषण ऋग्वेद में कई जगह है और दूसरे वेदों में भी पाया जाता है। उनका मत है कि यही 'शिव'-विशेषण बाद में शिव विशेष्य रूप से ही व्यवहृत होने लगा और रुद्र का नाम ही शिव हो गया। इसी नाम से वे आज भी पूजे जाते हैं। ऋग्वेद (१०-९२-९) के निम्नलिखित मन्त्र से यह प्रमाणित है—

स्तोमं वो अद्य रुद्राय शिक्वसे
क्षयद्वीराय नमसा दिदिष्टन।
येभिः शिवः स्ववाँ एव याविभिर्दिवः
सिषक्ति स्व-यशा निकामभिः ॥

(येभिः) जिन (एव-याविभिः) वेग से जानेवाले शक्ति-शाली (शिवः) सबका कल्याणकारी (स्व-यशा) स्वयं अपने सामर्थ्य से यशस्वी है। उन ही (नि–कामभिः) नितरां कान्ति-युक्त जनों से वह (दिवः सिषक्ति) नाना कामनावान् जनों की अभिलाषाओं को पूर्ण करता है। हे विद्वान् पुरुषों! (अद्य) आज उसी (रुद्राय) गरजते–बरसते मेघ के तुल्य, सुखों के वर्षक दुष्टों को रुलानेवाले (शिक्वसे) शक्तिशाली (क्षयद्-वीराय) वीर पुरुषों का नाश करनेवाले और सेनापति के तुल्य एवं (क्षयद्-वीराय) वीरों को बसानेवाले की (नमसा स्तोम दिविष्टन) विनय भाव से स्तुति करो।

इस मन्त्र से यह प्रत्यक्ष है कि शिव रुद्र का ही दूसरा नाम है। शिव और शक्ति जब दोनों ही ऋग्वेद में हैं तब अवश्य ही उनका मिलन भी सम्भव है और सृष्टि की उत्पत्ति भी उनके मिलन से सम्भव है। अब यह देखा जाता है कि ऋग्वेद के ऋषि भी शिव और शक्ति से भली-भाँति परिचित थे। फिर देखिये सांख्यों का पुरुष और प्रकृति शिव और शक्ति का ही दूसरा नाम है। अन्तर केवल यही है कि प्रकृति जड़ है। शक्ति का दूसरा नाम माया है।

श्वेताश्वतरोपनिषद् में प्रकृति हुई माया और पुरुष मायिन्। देवी, त्रिपुरा, अन्नपूर्णा और दक्षिणामूर्ति उपनिषदों में शक्ति के विविध नाम यथा काली, कराली, दुर्गा, अन्नपूर्णा, हैमवती उमा, अम्बा, अम्बिका और अम्बालिका पाये जाते हैं। तैत्तिरीय ब्राह्मण (१-६-१०-४) में अम्बिका रुद्र की भगिनी कही गई हैं। यजुर्वेद की वाजसनेयी संहिता में शिव को शिव त्र्यम्बक, कृत्तिवास और पिनाक-हस्त कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण में शिवजी के आठ नामों का उल्लेख है। यजुर्वेद (११-१-२२) में उनके बहुत नाम हैं। इन्हीं सब कारणों से कुलार्णव तन्त्र में तन्त्र वेदात्मक कहा गया है (तस्माद्वेदात्मकं शास्त्रं विद्धि कौलात्मकं प्रिये)।

उपर्युक्त उद्धरणों से यही प्रमाणित होता है कि तन्त्र-शास्त्र की उत्पत्ति वेद के साथ ही-साथ है,

और यह उसकी एक शाखा विशेष है। इन सब प्रमाणों के रहते हुए भी यदि तन्त्रों की प्राचीनता पर सन्देह किया जाय, तो भारी भ्रम होगा। इसीलिए उडरफ़ साहब कहते हैं कि बहुत से पुरातन तन्त्र-ग्रन्थों का लोप हो गया है।

वर्तमान समय में भ्रमवश ही लोग तन्त्रों का निराकरण करते हैं। यह शास्त्र अति प्राचीन है। जितने तन्त्र-ग्रन्थ पाये जाते हैं, अवश्य सभी प्राचीन समय में नहीं लिखे गए थे। कुछ ग्रन्थ आधुनिक समय के भी हैं। जैसे योगिनी तन्त्र में कोचराज-वंश के प्रतिष्ठाता विष्णुसिंह का परिचय है। विश्वसार तन्त्र में नित्यानन्द की जन्म-कथा है। ऐसे तन्त्र १५०० ईसवी के पश्चात् लिखे गये होंगे। भारतवर्ष में महानिर्वाण तन्त्र का विशेष आदर है। कोई-कोई कहते हैं कि प्रसिद्ध महात्मा (राजा) राममोहनराय के गुरु इस तन्त्र के रचयिता थे। इसकी सत्यता में सन्देह है।

यद्यपि तन्त्र के विषय इस लेख के पूर्व लेख में लिखे गये हैं, तथापि तन्त्र के प्रति जो भ्रम लोगों को है, उसको मिटाने के लिए उनके प्रमुख प्रतिपाद्य विषयों को पुनः यहाँ लिखा जाता है।

प्रतिपाद्य विषय—प्रातः-स्मरण, स्नान-विधि, त्रिपुण्ड्र-धारण, भूत-शुद्धि, भू-शुद्धि, प्राणायाम, सन्ध्या, जप, पुरश्चरण, करांग-न्यास, अन्तर्मातृका-न्यास, बहिर्मातृका-न्यास, चित्रान्यास, नामादि विद्या, नित्यादि विद्या, मूलविद्या, तत्व-न्यास, द्वार-पूजा, तर्पण, दशविद्या-न्यास, दान-निर्णय, नित्य-पूजा, सूर्यार्घ्य, तीर्थ-संस्कार, गुर्वादि-पूजन, दीक्षा, पूर्णाभिषेक, प्रायश्चित्त, निम्ब-पुष्प-पूजा, दमनक-पूजा, वसन्त-पूजा, श्रीचक्र-पूजा, दीक्षा-काल, दीक्षा-भेद, सर्वतोभद्रादि चक्र-निर्णय, यन्त्र-निरूपण, पुण्याह-वाचन, नान्दी श्राद्ध, नव-योनि, कौल श्राद्ध, मन्त्र-शोधन, मन्त्रोद्धार, नाम-परायण, तत्व-परायण, पञ्चांग-न्यास, महा-षोढा-न्यास, महा-न्यास, सम्मोहन-न्यास, सौभाग्य-वर्धन-न्यास, अन्त्येष्टि-क्रिया, विविध मुद्रा, अवधूतादि निर्णय इत्यादि।

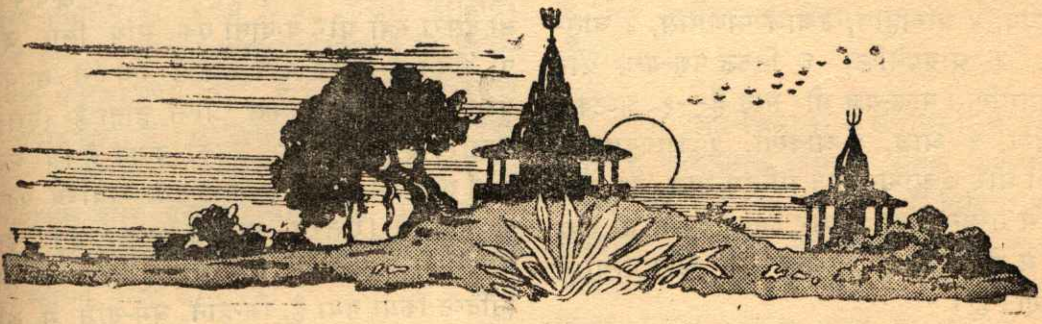

तन्त्रशास्त्र और वेद

वैदिक यज्ञ के तीन प्रकार हैं—(१) पाक-यज्ञ, (२) हविर्यज्ञ और (३) सोम-यज्ञ। इनमें से प्रत्येक के उप-प्रकार भी हैं। सोम-यज्ञ की तीन श्रेणियाँ बताई गई हैं—(१) एकाह, (२) अहिन और (३) सत्र।

एकाह यज्ञ वह है, जो जगद्धात्री-पूजा के समान तीन सवनों के द्वारा एक दिन में पूर्ण हो जाता है; अहिन यज्ञों के करने में दो से ग्यारह दिन तक लगते हैं और सत्रों में काफी अधिक दिनों के समय की आवश्यकता होती है–कम-से-कम तेरह दिन और अधिक-से-अधिक एक सहस्र वर्षों का समय उनमें व्यतीत होता है। बारह दिन में पूर्ण होनेवाले यज्ञ दूसरे प्रकार के रूप में ग्रहीत होते हैं।

प्रमुख सोम-यज्ञ ये हैं—१ अग्निष्टोम, २ अत्यग्निष्टोम, ३ उक्थ्य, ४ षोडशी, ५ वाजपेय, ६ अति-रात्र, ७ आप्तोर्याम। इष्टि या हविर्यज्ञ भी संख्या में मुख्यतः सात इस प्रकार गिनाये गये हैं—१ अग्न्याधेय, २ अग्निहोत्र, ३ दार्श पौर्णमास, ४ चातुर्मास्य, ५ आग्रयनेष्टि, ६ निरुद्ध-पशु-बन्ध और ७ सौत्रामणि। पाक-यज्ञ भी सात हैं—१ अष्टका, २ पार्वण, ३ श्राद्ध, ४ श्रावणी, ५ आग्रहायणी, ६ चंत्री और ७ आश्वयुजी। अन्तिम सात यज्ञ गृह्य अग्नि से सम्पन्न होते हैं और इनका वर्णन भी गृह्य ग्रन्थों में ही दिया है। अन्य यज्ञ श्रौत ग्रन्थों में ही वर्णित हैं।

स्तोम या स्तोत्र और गाये जानेवाले सामों तथा कपालों व ग्रहों की संख्या की दृष्टि से या बलिदानों की संख्या व स्वरूप के विचार से अथवा अन्य विवरणों के अनुसार उक्त यज्ञों में चाहे जितना अन्तर हो परन्तु कुछ भाव ऐसे अवश्य हैं, जो इन सबमें समान रूप से व्याप्त हैं। जैसे सभी यज्ञ इस धारणा पर आधारित हैं कि मिथुनीकरण से आध्यात्मिक आनन्द की उपलब्धि होती है।

मैथुन अग्निहोत्र है (शतपथ ब्राह्मण १—६, २, १०); मिथुनीकरण संस्कार है (शतपथ ब्राह्मण ३—२, १, २ आदि)। वे सदस् को गुप्त भाव से आवृत्त किये हैं क्योंकि आवृत्त करने की क्रिया मिथुनीकरण है और इसलिए वह अवश्य ही गुप्ततः की जानी चाहिए (शतपथ ब्राह्मण ४—६, ७, ९, और १०)। विश्व-ज्योतियों का निर्माण किया जाता है क्योंकि उससे उत्पत्ति होती है। अनुष्टुभ् पद्य के दो पद या चरण परस्पर अलिप्त ढङ्ग से पढ़े जाते हैं और अन्य दो पद मैथुन-भाव के अनुकरण पर लिप्तता के साथ पढ़े जाते हैं (ऐत्तरेय ब्राह्मण २—५, ३)। वे देवी की पूजा तब तक नहीं करते, जब तक कोई देव उसके पुं-अंग के रूप में न हो (ऐत्तरेय ब्राह्मण ३—५, ४); वे एक छन्द-युगल का प्रयोग करते हैं, जिसमें से एक छन्द पुं है, तो दूसरा स्त्री और ये दोनों एक साथ लिए जाने पर मैथुन के प्रतीक माने जाते हैं एवं ऐसे मैथुन से पूजा का अभीक्षित फल प्राप्त होता है (ऐत्तरेय ब्राह्मण ५—३, १); उनका कथन है कि श्रद्धा और सत्य का मैथुन सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोच्च प्रकार का मैथुन है (ऐत्तरेय ब्राह्मण ७—२, ९)। इसी प्रकार का भाव-मैथुन उन अग्निहोत्रियों के लिए निर्दिष्ट किया गया है, जिन्होंने धर्म-बुद्धि से कर्मकाण्ड करके अपने को पवित्र कर लिया हो।

मैथुन-क्रिया को उन्होंने धार्मिक कृत्य या धार्मिक कृत्य का एक अङ्ग माना है। वैदिक जन-समाज का एक विश्वास इसलिए यह था कि मैथुन यहाँ से आनन्द के मार्ग को ले जाता है और आध्या-

त्मिक प्रगति को निश्चित बनाने के लिए इसे सच्चे धार्मिक भाव से ही करना चाहिए। मनमाना पशु-मैथुन सर्वथा गर्हित ठहराया गया था। इड़ा नामक एक महिला की उक्ति है—'यदि यज्ञ में तुम मेरा उपयोग करोगे, तो जो भी आशीर्वाद मेरे द्वारा तुम प्राप्त करने की प्रार्थना करोगे, वह तुम्हारे प्रति स्वीकृत हो जायगा।' (शतपथ ब्राह्मण १--८, १, ६ इत्यादि)।

वैदिक लोग सोम-यज्ञ और हविर्यज्ञ करते थे, जिनमें सौत्रामणि सम्मिलित हैं। इनमें मादक पेय ग्रहण किये जाते थे (लाटयायन, कात्यायन, सांख्यायन श्रौतसूत्र, शतपथ ब्राह्मण आदि)। वैदिक साहित्य में स्पष्ट लिखा है कि सुरा यज्ञ-कर्त्ता को पवित्र करती है, जब कि वह स्वयं भी पवित्र होती है। ऋषि कक्षिवान ने सुरा की प्रशंसा की है। सुरा को अभिलषित वस्तु बताया है। वे मधुर पेय सोम को और भी पसन्द करते हैं। सोम परमाहुति है, यह अमरता-दायक अमृत है। साथ ही उन्होंने मादक द्रव्यों के पशु-वत् प्रयोग की भर्त्सना भी की है। उन्होंने सुख की प्राप्ति के लिए सुरा और सोम के प्रयोग का निर्देश किया है। इसके लिए उन्होंने मात्रा निर्दिष्ट कर दी है और यह भी संकेत कर दिया है कि अमुक यज्ञ में इतनी बार इतनी-इतनी मात्रा में इसे ग्रहण करना चाहिए। इसके साथ उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया है कि विधिहीनता से पूजा व्यर्थ होती है। वे सुरा से पितरों को तर्पण करते थे। अश्विनी-कुमारों और विनायक-माता को भी वे सुरा समर्पित किया करते थे। यज्ञ में पुरोहित और गृहस्थ साथ-साथ बैठते हैं, वे साथ-साथ अपने पात्रों का स्पर्श करते हैं और देवों के सम्बोधक मन्त्रों का उच्चारण करते हुए वे उन्हें उठा कर अपने होठों तक ले आते हैं, तब उनमें निहित पेय को पीते हैं (ऐत्तरेय ब्राह्मण ६, ७)।

यज्ञों में वैदिक जन अपने देवताओं के प्रति पशु और वनस्पति-जन्य भोज्य पदार्थ प्रदान किया करते थे। वानस्पतिक पदार्थ ये हैं—तण्डुल, पिष्टक, फलीकरण, पुरोडाश, ओदन, यवा-गूह, पृथुक, लाज, धान और सक्तु। पशु-जन्य पदार्थों में ये वस्तुएँ हैं—पय, दधि, आज्य, आमिक्षा, वाजिन, वपा, मांस, लोहित और पशु-रस। मुख्य पदार्थ ये हैं—धान, करम्भ, परिवाह, पुरोडाश और पयस्या। यह कहना सचमुच गलत न होगा कि कोई भी वैदिक कृत्य इन वस्तुओं के बिना नहीं हो सकता।

वैदिक लोग किसी भी प्रकार की लिप्सा को पास नहीं फटकने देते। वे मैथुन, मांस, मद्य और मुद्रा को धार्मिक कृत्यों में और देवोपहार-रूप में ही ग्रहण करते हैं। तान्त्रिक लोगों की चक्र-बैठक निश्चय ही वाजपेय और सौत्रामणि यज्ञों से अत्यन्त साम्य रखती है। लिखा है कि 'जब सामूहिक रूप से यज्ञ किया जाता है, तो यज्ञ-क्रिया में सहयोग देनेवाला प्रत्येक व्यक्ति ब्राह्मण हो जाता है और उसमें जाति की दृष्टि से कोई भेद-भाव नहीं रखा जाता' (ऐत्तरेय ब्राह्मण ७--४, १)।

वैदिक और तान्त्रिक दोनों ही प्रकार की पूजाएँ आचमन-क्रिया से प्रारम्भ की जाती हैं (गोभिल गृह्य-सूत्र १--२, ५)। विघ्नों और अरिष्टों को दूर करने के लिए वैदिक लोग खट्, फट्, हुँ जैसी ध्वनियों का उच्चारण करते हैं (तैत्तिरीय आरण्यक, साम-वेद, अरण्य-गान)। मन्त्र के प्रत्येक अक्षर को वे एक अधिष्ठातृ देवता मानते हैं (ऐत्तरेय ब्राह्मण)।

अपनी पूजन-क्रियाओं में अंगुलियों से वे मुद्रायें बनाते हैं और अमुक ध्वनि के अमुक देवताओं का स्थान अपने शरीर के अमुक अंग में निर्दिष्ट करते हैं (शतपथ ब्राह्मण, पाणिनीय शिक्षा, कात्यायन श्रौत-सूत्र)। देवता को प्रसन्न करने के लिए वे विशेष प्रकार से स्नान करते हैं (गोभिल स्नान-सूत्र) और आचमन करने में वे स्वयं को ब्रह्म मानकर अपने ही को दान देते हैं (तैत्तिरीय आरण्यक)। ब्रह्म की वे प्रतिदिन तीन बार पूजा करते हैं। यह पूजन सन्ध्या-वन्दन या आह्निक-क्रिया के नाम से प्रसिद्ध है।

वर्तमान काल में वैदिकों-द्वारा व्यवहृत वैदिक सन्ध्या का क्रम कैसे और कब से प्रारम्भ हुआ, इसका निश्चय अभी तक नहीं हो सका है परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जब तैत्तिरीय आरण्यक लिखा गया, उस समय के पहले तक यह क्रिया प्रचलित थी। यह स्मरणीय है कि केवल इसी ग्रन्थ में सन्ध्या के मन्त्र लिखे हुये मिलते हैं। ऋषियों, पितरों और देवों को तर्पण देने और प्राणायाम करने की विधि भी बौधायन के पहले वर्तमान थी। वैदिक सन्ध्या-पूजन की इस क्रिया की तुलना तान्त्रिक पूजा-प्रकार से करने पर वेद और तन्त्र के सम्बन्ध में अच्छा ज्ञान प्राप्त होता है।

यज्ञों में वैदिक लोग मुख्यतः जिन देवताओं की पूजा करते थे, वे ये हैं—

१ सरस्वती (शतपथ ब्राह्मण)—इनके प्रति पशु-बलि दी जाती है। यही वाक् या वाग्देवी हैं, जो देवों-द्वारा यह वचन देने पर कि अग्नि से पहले उन्हें आहुति दी जायगी, सिंहिनी के रूप में उनके पक्ष में सम्मिलित हुई थीं और जो भोजन प्रदान करती हैं।

२ महादेव या महेश (श० ब्रा०)—अग्नि के आठ स्वरूपों में से एक।

३ रुद्र

४ विष्णु

५ विनायक (गणेश)

६ स्कन्द (कार्तिकेय)—साम-विधान-ब्राह्मण

७ लिङ्ग (तै० ब्रा०)—वृषभासीन शम्भु

८ शिव (सा० वि० ब्रा०)

इनके अतिरिक्त वे गाय की भी पूजा करते थे, जिन्हें उन्होंने भगवती (ऐ० ब्रा०) कहा है। इन्द्र, वरुण, अग्नि, सोम, रुद्र, पूषण, अश्विन, सूर्य और कुछ अन्य देवताओं की भी वे पूजा करते थे। परमानन्द की प्राप्ति के लिए वे रात्रि-देवी (सा० वि० ब्रा०) की पूजा करते थे। रात्रि-देवी का स्वरूप इस प्रकार का बताया है कि वे तरुणी-प्राय हैं, उनके केश लम्बे और घुंघराले हैं, एक पाश उनके हाथ में है। उनके प्रसन्न होने से सभी देव प्रसन्न होते हैं। प्रसन्न होकर वे वर देती हैं परन्तु उपासक को तुरन्त उस वरदान को अस्वीकार कर देना होता है और तब वह पुनर्जन्म से छुटकारा पा जाता है। यह रात्रि-पूजा है; इसमें उपवास करने की कोई आवश्यकता नहीं और रात्रि में ही इसका करना आवश्यक है। इस पूजा में रात्रि-सूक्त (ऋग्वेद १०—१२७, १) का पाठ करना होता है।

साम-विधान-ब्राह्मण के पश्चात् आनेवाले ऋक्-विधान-ब्राह्मण (४-१९) में लिखा है कि रात्रि-सूक्त का पाठ अवश्य करना चाहिए और पूजन स्थाली-पाक यज्ञ जैसा होना चाहिए। रात्रि वस्तुतः वाग्देवी ही है, केवल स्वरूप में भिन्न है। कभी-कभी इन दोनों को एक और समान मानकर ही पूजा जाता है (तैत्तिरीय ब्राह्मण)। रात्रि-सूक्त उसे कृष्ण वर्ण का बताता है। ऋग्वेद के खिल भाग (ऋग्वेद खिल २५) में रात्रि-सूक्त का जो अंश है, उसमें रात्रि-देवी को 'दुर्गा' नाम से अभिहित किया गया है और यह मन्त्र तैत्तिरीय आरण्यक (१०—१) में मिलता है। यहाँ पर उसे आहुति-वाहिनी के रूप में वर्णन किया गया है। अतः वह अग्नि सिद्ध होती है। अग्नि-देवता होने से उसके जिह्वाएँ भी हैं, जो इन नामों से ज्ञात हैं—१ काली, २ कराली ३ मनोजवा, ४ सुलोहिता, ५ सुधूम्र-वर्णा, ६ स्फुलिङ्गिनी और ७ शुचि-स्मिता। इन्हीं जिह्वाओं के द्वारा वह आहुतियों को ग्रहण करती है (गृह संग्रह)। वृहद् देवता में उल्लेख है कि अदिति, वाक्, सरस्वती और दुर्गा एक ही हैं।

वैदिक परिपाटी के अनुसार तान्त्रिक क्रमोपासना में 'ॐ' को परम बीज स्वीकार किया गया है और उसमें वेद के 'ह्रींकार' को भी 'हुँ' रूप में ग्रहण किया गया है। महानिर्वाण के पञ्चम अध्याय को गोभिल के स्नान-सूत्र से तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि आचमन और स्नान के नियम और अभ्यास भी एक समान हैं। तन्त्रों में भाव-प्रकाशन के लिए लम्बे वाक्यों की अपेक्षा एक

समास मात्र से काम चला लेना अधिक पसन्द किया गया है और वे वैदिक पद्धति के अनुसार एकाक्षरी मन्त्र ही अधिक बनाते हैं। न्यास और शुद्धि के अभ्यास का भी पूर्वाभास वेदों में मिलता है (शतपथ ब्राह्मण ७—५, २, १२)।

वेद की प्रधान देवता सरस्वती है, जिसे निघण्टु में 'नग्न' कहा गया है और उसे बाला स्त्री का द्योतक माना गया है। यदि इन भावों का साम-विधान-ब्राह्मण के भावों से मिलान करें, तो काली नाम से प्रसिद्ध देवता का पूर्ण स्वरूप प्रस्तुत हो जाता है। सिंह-वाहिनी दुर्गा भी वर्तमान काल में अत्यन्त प्रसिद्ध देवता है। जैसा कि पहले कहा गया है, 'वाक्' ने सिंहिनी का रूप धारण किया था और देवों की प्रार्थना पर उनके पक्ष में हो गई थी—अतएव वाक् और सिंह एक ही हैं। अभी ऊपर यह भी दिखाया गया है कि वाक् और दुर्गा भी एक ही हैं। इन तथ्यों से प्रकट हो जाता है कि दुर्गा का वाहन सिंह क्यों माना गया।

रात्रि की पूजा निशा में करनी होती है, अतः काली की पूजा भी निश्चयतः रात्रि-काल की ही क्रिया हो जाती है और इस क्रिया में निशा-कृत्य के सभी साधनों का समावेश भी आवश्यक हो जाता है। ये साधन वैदिक अति-रात्र से ज्ञातव्य हैं। अति-रात्र तीन पर्यायों (चार स्तोत्रों और शास्त्रों का पाठ-क्रम) से युक्त क्रिया है, जिसमें हर पर्याय के अन्त में सोम-पान करने का विधान है। इसी प्रकार के नियम और अभ्यास देवी काली की पूजा में प्रचलित हैं, जिसमें विजया प्रमुखतः स्वीकार की जाती है। स्मरणीय है कि अति-रात्र की देवता सरस्वती है।

तन्त्र के मुख्य पुं-देवता महादेव हैं, जिन्हें शिव, महेश, शम्भु और कुछ दशाओं में रुद्र भी कहते हैं। रुद्र और महादेव ता स्वीकृत रूप से वैदिक देवता हैं। रुद्र को धनुर्बाण-धारी, शतानन और सहस्र-नेत्र रूप में वर्णित किया गया है (शतपथ ब्राह्मण और यजुर्वेद)। महादेव को व्युत्पत्ति यह की गई है—'महान् देवः महादेवः' (शतपथ ब्रा०)। ऐसा प्रतीत होता है कि महादेव के विभिन्न स्वरूपों के मन्त्र, जिन्हें तान्त्रिक लोग अब भी प्रयोग करते हैं, वैदिक लोगों को ज्ञात थे और वे उन्हें व्यवहार में लाते थे। महेश का नाम तो वैदिक साहित्य में नहीं मिलता, पर शिव को रुद्र सुशिव के रूप में देखा जा सकता है, जो एक दयालु देवता बताये गये हैं (शतपथ ब्रा०)। महादेव (सोम) बाघाम्बर-भूषित हैं, इसका वर्णन वैदिक साहित्य में मिलता है। रुद्र को तन्त्र तथा वेद दोनों में ही कृष्ण-वण का बताया है। वह और मन्यु एक ही हैं, जिसके दोनों ओर एक-एक देवी स्थित बताई गई हैं। इस सम्बन्ध में वैदिक निरित्ति स्मरणीय है। यह देवी कृष्ण-वर्णा और भयानक है। यह उन लोगों को दण्ड देती है, जो उसे सोम अर्पित नहीं करते। यह दुर्भाग्य की देवता है और सभी दुर्भाग्यों को दूर करती है। यह श्मशान-प्रिया है (शतपथ ब्रा०, ऐत्तरेय ब्रा)।

तन्त्रों में गणेश, कार्तिक और विष्णु की पूजा का विधान है, जिनकी उपासना के लिए साम-विधान-ब्राह्मण ने कई सामों के गायन का निर्देश किया है। वे साम क्रमशः विनायक-संहिता, स्कन्द-संहिता और विष्णु संहिता (साम-वेद) के नाम से प्रसिद्ध हैं।

तन्त्रशास्त्र में यन्त्रों के प्रयोग की विधि दी है। ये यन्त्र कई प्रकार के हैं और इनको विभिन्न कार्यों में प्रयोग किया जा सकता है। इनमें से एक 'वर्गा-न्तर्गत त्रिकोण' है। यह वैदिक लोगों के अग्नि-क्षेत्र-निर्माण के विधान में मिलेगा (शतपथ ब्राह्मण)।

यहाँ जो थोड़े से तथ्य एकत्र किये गये हैं, उनसे किसी भी निष्पक्ष व्यक्ति को यह ज्ञात हो सकेगा कि वेद तथा तन्त्र-शास्त्र में परस्पर कितना घनिष्ठ सम्बन्ध है।

तन्त्रशास्त्र की विशेषता

'तन्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम् ।'

जिस शास्त्र के पठन-पाठन तथा अनुसरण से ज्ञान की वृद्धि होती है, उस शास्त्र का नाम 'तन्त्र' है । इस अर्थ में 'तन्त्र' शब्द से समस्त शास्त्रों का ही बोध होता है । तन्त्र-शास्त्र का विशेष अर्थ–लोक-प्रसिद्ध शिव-दुर्गा-प्रकाशित तान्त्रिक धर्म-शास्त्र है ।

तनोति विपुलानर्थान् तत्व-मन्त्र-समन्वितान् ।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ।।

(कालिकागम-तन्त्र)

तन्त्र-शास्त्र से मन्त्र-शास्त्र का बोध होता है । ब्रह्म तथा प्रकृति का तत्व क्या है—इस प्रश्न का विचार तथा सिद्धान्त तन्त्र-शास्त्र में किया गया है । किस प्रकार दुःखों के पंजे से मुक्ति प्राप्त हो सकती है; किस उपाय से ऐहिक सुख-सम्पद् तथा पारलौकिक परमानन्द एवं मुक्ति का लाभ हो सकता है; किस उपाय से मनुष्य देवता-स्वरूप बन सकता है—इन सब विषयों का सुन्दर प्रशस्त पथ तन्त्र-शास्त्र में दिखलाया गया है ।

जिस प्रकार वेद का नाम 'श्रुति' है, उसी प्रकार तन्त्र का नाम भी 'श्रुति' है । महर्षि हारीत ने कहा है--

'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः । श्रुति-प्रमाणको धर्मः । श्रुतिस्तु द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च ।'

अर्थात धर्म क्या है--इस विषय को जानने के लिये श्रुति का आश्रय लेना पड़ता है । दो प्रकार की श्रुति है--वैदिक श्रुति तथा तान्त्रिक श्रुति ।

जिस प्रकार भगवान् ब्रह्मा से वेदों का प्रकाश हुआ है, उसी प्रकार भगवान् शिव से तन्त्रों का प्रकाश हुआ है ।

गुरु-शिष्य-पदे स्थित्वा स्वयमेव सदाशिवः ।
प्रश्नोत्तर-पदैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयत् ।।

(स्वच्छन्द-तन्त्र)

सदाशिव ने कभी गुरु-रूप से और कभी शिष्य-रूप से तन्त्र-तत्वों का प्रकाश किया है

जिस प्रकार वेद गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा 'श्रुति' नाम से संसार में प्रचारित हैं, उसी प्रकार तन्त्र भी गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा 'श्रुति' नाम से संसार में ख्यात हुए हैं ।

कर्णात् कर्णोपदेशेन सम्प्राप्तमवनी-तलम् ।

(वामकेश्वर-तन्त्र)

मन्त्रों की 'अघटन-घटना-पटीयसी' शक्ति है । अद्वैतवादी आचार्य शङ्कर ने भी शारीरक भाष्य में इस विषय का उल्लेख किया है--

लौकिकानामपि मणि-मन्त्रौषधि-प्रभृतीनां देश-काल-निमित्त-वैचित्र्य-वशाच्छक्तयो विरुद्धानेक-कार्य-विषया दृश्यन्ते ।

इस उक्ति का मर्म यह है--जिस प्रकार मणि तथा औषधि की अचिन्त्य शक्ति का परिचय इस संसार में पद-पद पर प्राप्त होता है, उसी प्रकार मन्त्रों की भी अचिन्त्य शक्ति है ।

इस शक्ति का ज्ञान सद्गुरु के उपदेशों से प्राप्त होता है, केवल युक्ति तर्क से इस विषय का ज्ञान

नहीं होता। तन्त्र-शास्त्र के केवल अध्ययन से गूढ़ रहस्योंका सम्यक् ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, आचरण तथा प्रयोग की आवश्यकता है। तन्त्र में विशिष्ट-कर्मा बनना चाहिये। कार्य करने पर ही बोध हो जायगा कि मन्त्रों की जिस प्रकार शक्ति वर्णित है, वह शक्ति यथार्थ सत्य है। विद्या के बल से तन्त्रों का रहस्य परिज्ञात नहीं होता।

विद्या-बलेन यः काश्चदागमार्थं विचारयेत्।
परान् दिशति धर्मार्थं स पतेन्नरके ध्रुवम् ॥
(साधन-प्रदीप)

वेद तथा तन्त्र में तत्वतः कुछ भी भेद नहीं है, भेद केवल दृष्टिकोण का है। महा-भागवत ग्रन्थ में देवीजी ने कहा है—

आगमश्चैव वेदश्च द्वौ बाहू मम शङ्कर।
ताभ्यामेव धृतं सर्वं जगत् स्थावर-जङ्गमम् ॥

इसका तात्पर्य यह है—वेद तथा तन्त्र परा-शक्ति के दो बाहु हैं। इन दो भुजाओं से जगदम्बा चराचर जगत् की रक्षा करती है।

अग्नि, इन्द्र, सूर्य, वरुण आदि वेद के प्रधान देवता हैं। ये सभी देवता पुरुष हैं। उषा-प्रभृति स्त्री-देवताओं की संख्या वेद में अत्यन्त कम है। वेद में अग्नि, इन्द्र प्रभृति पुरुष-देवताओं को जो स्थान दिया गया है, अग्नि-शक्ति स्वाहा को तथा इन्द्र-शक्ति इन्द्राणी को उसी प्रकार का स्थान नहीं दिया गया है। किन्तु तन्त्र-शास्त्र ने शक्ति को ही—जगदम्बा को ही—विशिष्ट आसन प्रदान किया है। तन्त्र का विचार है——अग्नि की दाहिका शक्ति ही तो अग्नि है, दाहिका शक्ति के नाश होने पर अग्नि का अग्नित्व नहीं रह जाता। शक्ति तथा शक्ति-मान् में भेद कहाँ है? शक्ति-मान् का जीवन ही तो शक्ति है। जो कुछ हो रहा है, वह शक्ति का ही तो कार्य है।

ब्रह्माणी कुरुते सृष्टिं न तु ब्रह्मा कदाचन।
प्रकृतिं च विना देवि सर्वे कार्याक्षमा ध्रुवम् ॥
(कुब्जिका-तन्त्र)

इस दृष्टिकोण के भेद के कारण वैदिक तथा तान्त्रिक उपासना-पद्धति में कुछ भेद आ गया है। तन्त्रों के सिद्धान्त में——

शिवोऽपि शवतां याति कुण्डलिन्या विवर्जितः।
(देवी-भागवत)

शिव की शक्ति कुण्डलिनी जब शिव से पृथक् हो जाती है, तब शव भी शिव बन जाते हैं। अतएव शिव की पूजा का प्रकृत अर्थ शिव-शक्ति की पूजा है। शक्ति को पृथक् करने से शिव का अस्तित्व नहीं रहता।

शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते।
(शक्तिसङ्गम-तन्त्र)

इस शक्ति-पूजा में सभी का अधिकार है, परन्तु वेद में सबका अधिकार नहीं है। नृसिंह-पूर्व-तापिनी उपनिषद् में कहा है--

सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं स्त्री-शूद्राय नेच्छन्ति।

परन्तु तन्त्र-शास्त्र में इस प्रकार का कोई भी नियम नहीं है——

विप्राद्यन्त्यज-पर्यन्ता द्विपदा येऽत्र भू-तले।
ते सर्वेऽस्मिन् कुलाचारे भवेयुरधिकारिणः ॥
(महानिर्वाण-तन्त्र)

तन्त्रों के श्रेष्ठाचार——कुलाचार में——विप्र से शूद्र-पर्यन्त सभी मनुष्यों का अधिकार है। तन्त्र में जाति-भेद का आदर नहीं किया गया है। इसमें आदर है पुरुषकार का, परन्तु इन सब वक्तव्यों का यह अर्थ नहीं है कि तन्त्र वेद-विरुद्ध हैं। प्रत्युत उपनिषदों के प्रयोगात्मक व्याख्यान ही तन्त्रों में दिये गये हैं। उपनिषद् में उक्त है—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते ॥
(ईशोपनिषद्)

केवल ब्रह्म-विद्या से ही कार्य नहीं चलेगा, प्रकृति को भी जान लेना चाहिये। यह विश्व ब्रह्म

का ही अंश है, विश्व को पृथक् करने से ब्रह्म का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं होता। परन्तु इसका सुगम पथ क्या है, सुगम उपाय क्या है, किस प्रकार से संसार के द्वारा ही ब्रह्म की प्राप्ति हो सकती है—इत्यादि विषयों का ठीक-ठीक निर्णय तन्त्र-रूपी वृहत् प्रयोग-शाला में ही उपलब्ध है। इस प्रयोग-शाला का अनुसन्धान प्राप्त न होने से वैदिक उपनिषदों का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो सकता। अतः तन्त्रां का उपनिषदों की क्रियात्मक तथा व्यावहारिक व्याख्या कहा जाता है, परन्तु यह व्याख्या किस प्रकार की है, वह पथ किस प्रकार का है—इन सब विषयों को जानने के लिए अनुभवी सद्गुरु का अनुसन्धान करना पड़ता है। उनकी शरण लेने पर ही ज्ञान की प्राप्ति सम्भव होती है। तभी ज्ञान तथा कर्म का भेद दूर हो जाता है, शिव एवं शक्ति एक हो जाते हैं, कुण्डलिनी शक्ति परम शिव से मिल जाती है तथा जीवन को आनन्दमय और अमृतमय कर देती है, परन्तु इस तान्त्रिक दीक्षा में दीक्षित होने के लिये हृदय की उदारता एवं विशालता की आवश्यकता है। तन्त्र-धर्म में सिद्धि की प्राप्ति के लिये अपने को भी देवता-स्वरूप बन जाना पड़ता है—

देव एव यजेद्देवं नादेवो देवमर्चयेत्।
(गन्धर्व-तन्त्र)

स्वयं देवता-स्वरूप न बनने से देवता की प्राप्ति नहीं होती। अतएव तान्त्रिक धम में सबका अधिकार होने पर भी इस धर्म में यथार्थतः अधिकारियों की संख्या बहुत ही कम है। भोग से परिवेष्टित होकर भी परम पद को प्राप्त करना बहुत ही कठिन समस्या है। कुलार्णव-तन्त्र में वर्णित है—

कृपाण-धारा-गमनाद् व्याघ्र-कण्ठावलम्बनात्।
भुजङ्ग-धारणान्नूनमशक्यं कुल-साधनम्॥

अर्थात् 'कृपाण की तीक्ष्ण धारा पर गमन भी सहज है, व्याघ्र का कण्ठालिङ्गन भी सहज है, फणी के फण पर हस्तक्षेप भी सहज है; किन्तु तन्त्र का कुल-साधन इन सबसे अत्यन्त कठिन है।'

परन्तु इस तन्त्र-मार्ग का विशेष आकर्षण यह है कि—

भोगश्च मोक्षश्च करस्थ एव। (रुद्रयामल)

तन्त्र में संसार-त्याग की आवश्यकता नहीं है। संसार में रहकर भी परम पद की प्राप्ति के लिये सुन्दर पथ तन्त्र में दिखलाया गया है, किन्तु पथ-प्रदर्शक की प्राप्ति न होने से, सद्गुरु के न मिलने से इस पथ पर चलना अत्यन्त कठिन होता है, किन्तु यदि सद्गुरु मिल जाय, तो अति अल्प समय में ही एवं अति अल्प परिश्रम से ही असम्भव भी सम्भव हो जाता है; उद्देश्य की पूर्ति होती है; अमृत का अनुसन्धान प्राप्त हो जाता है; साधक स्वयं शिव बन जाता है।

तन्त्रों के बीज-मन्त्र देवताओं के प्रतीक हैं। मन्त्र तथा देवताओं में लेश-मात्र का भी भेद नहीं है। मन्त्र-सिद्धि का अर्थ ही देवता-सिद्धि है। मन्त्र-सिद्धि होने पर साधक स्वयं 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' बन जाता है।

तन्त्रों की पाँच प्रसिद्ध शाखाएँ हैं। इन शाखाओं में शक्ति-शाखा ही अधिक प्रसिद्ध है। शाक्त तन्त्रों में काली, तारा, षोडशी इत्यादि दश महाविद्यायें ही प्रधान हैं। दश महाविद्याओं में भगवती काली आद्या शक्ति हैं। भगवती काली के पुरुष-रूप भगवान् श्रीकृष्ण हैं। जगत् की रक्षा के लिये परा-शक्ति आविर्भूत होती है। सप्तशती महा-ग्रन्थ में देवी ने स्वयं कहा है—

इत्थं यदा यदा बाधा दानवोत्था भविष्यति।
तदा तदावतीर्याहं करिष्याम्यरि-संक्षयम्॥

इसी प्रकार की उक्ति भगवद्-गीता में भी मिलती है। इस परा-शक्ति की काली-मूर्ति का तत्व अत्यन्त गम्भीर है। अथर्ववेद में उक्त है—

तस्माद् वै नान्यत् परमस्ति तेजः।

काल ही सबसे अधिक शक्तिशाली है। इस काल की शक्ति का नाम ही काली है। काल-शक्ति का कार्य केवल संहार ही नहीं है, अपितु सृष्टि तथा पालन भी हैं। इसी गूढ़ तत्व को काली-मूर्ति में परिस्फुट किया गया है। काली न तो पुरुष है और न स्त्री, तथापि साधकों के ध्यानादि में सुविधा के लिये इस महा-शक्ति की मातृ-रूप में ही कल्पना की गई—

नेयं योषिन्न च पुमान् न षण्ढो न जड़: स्मृत: ।
तथापि कल्प-वल्ली-वत् स्त्री-शब्देनैव युज्यते ॥
(नव-रत्नेश्वर)

तत्वत: ब्रह्म, शिव, दशावतार, दश महाविद्या इत्यादि भिन्न-भिन्न देवताओं में कुछ भी भेद नहीं है। एक ही परा-शक्ति को भिन्न महिमा तथा कार्य के निमित्त से भिन्न-भिन्न नाम तथा रूप दिये गये हैं। ऋग्वेद में भी कहा गया है--

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति ।

विप्रों ने एक ही ब्रह्म का नाना रूपों में दर्शन तथा प्रकाश किया है। भगवती काली काल से—महाकाल शिव से भिन्न नहीं हैं।

सा शिवा परमा ज्ञेया शिवाभिन्ना शिवङ्करी ।
(सूत-संहिता)

इस काली की पूजा में साधक को भी काली-स्वरूप हो जाना पड़ता है। कालिकोपनिषद् में कहा है—

काली-रूपमात्मानं विभावयेत् ।

काली-भावना के बल से कालीत्व प्राप्त कर काल-शक्ति की भीषण भीति से मुक्ति प्राप्त करना ही काली-पूजा का अन्यतम उद्देश्य है। काल-शक्ति पर जय प्राप्त करने पर ही जरा-मरण का भय दूर हो सकता है; परम सुख तथा शान्ति मिलती है; द्वेष, विवाद आदि समस्त अनर्थ भी दूर हो जाते हैं और भेद में अभेद आ जाता है। इस प्रकार से तन्त्र की मातृ-पूजा के दार्शनिक तत्व ने भारतीय धर्म-मत में एक नूतन स्रोत को प्रवाहित किया है। द्वैतवाद के द्वारा ही अद्वैतवाद की स्थापना की है। माता के आसन को अत्यन्त उन्नत कर दिया है। केवल इतना ही नहीं, अपितु सब स्त्रियों में जगदम्बा की ही प्रतिष्ठा की है--

विद्या: समस्तास्तव देवि ! भेदा:
स्त्रिय: समस्ता: सकला जगत्सु ।
(सप्तशती)

परन्तु 'नायमात्मा बल-हीनेन लभ्य:' (मुण्डकोपनिषद्)। बल की—शक्ति की आवश्यकता है। बल अथवा शक्ति के बिना आत्म-लाभ नहीं होता। अत: शक्ति-पूजा की--काली-पूजा की बड़ी आवश्यकता है। शक्ति की साधना में--काली की साधना में—सिद्धि प्राप्त होने पर ही ऐहिक तथा पारत्रिक सब समस्याओं का समाधान हो जाता है; पूर्ण शान्ति प्राप्ति होती है; विश्व आनन्दमय बन जाता है। एकता, प्रीति, भ्रातृत्व तथा विश्व—संसार की सुख-शान्ति का समाधान ही तन्त्र-शास्त्र का दार्शनिक सिद्धान्त तथा उपदेश है। यही शक्ति-पूजा का परम तत्व तथा रहस्य है।

माता च पार्वती देवी पिता देवो महेश्वर: ।
भ्रातरो भैरवा: सर्वे स्व-भवनं भुवन-त्रयम् ॥
(तन्त्र-तत्व)

तन्त्र-पद्धति एवं स्मृति-शास्त्र

'तन्त्र-पद्धति के साथ स्मृति-शास्त्र का विरोध है'--ऐसा कुछ आचार्यों का कहना है लेकिन ऐसा कहना गलत है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वेदानु-भाविनो स्मृति सर्वथा वेदानु-वादिनो है। वेद एवं 'तन्त्र' दोनों अगर 'श्रुति-पद-वाच्य हों, तो स्मृति का विचार तन्त्राचार में निमग्न होकर चल सकता है। आदि स्मृति मनु-संहिता को अद्वितीय व्याख्या करने-वाले कुल्लूक भट्ट ने 'तन्त्र' को श्रुति का गौरव-दान करने के लिये महर्षि हारीत के वचन को उद्धृत किया है। यथा--

'श्रुतिश्च द्विविधा वैदिकी तान्त्रिकी च।'
भागवत का अभिमत और भो उदार है—
"य आशु हृदय-ग्रन्थि निर्जिदीर्षु:"

अर्थात् जो व्यक्ति शीघ्र अपनी हृदय-ग्रन्थि का छेदन करना चाहता है, वह वेद-विधान के साथ तन्त्रोक्त विधान का समुच्चय करे—'विधिनोपचरेद्देव तन्त्रोक्तेन च ··· ।'

सूरि-समाज में 'तन्त्र' 'शिव-स्मृति' नाम से पूजित होता है। मन्वादि स्मृति अधिकतर कर्म्म-काण्ड तक ही लिखा गया है। परन्तु 'शिव-स्मृति' अथवा 'तन्त्र' तद्विहित कर्म्म-काण्ड या साधना का क्रमोन्नत सोपान-सज्जित समुन्नत ब्रह्म-विज्ञान-मन्दिर है। दाक्षिणात्य पण्डिताग्र-गण्य श्रीमद्-भास्कर-राय ने अपने सौभाग्य-भास्कर-भाष्य में लिखा है—

'तन्त्राणां स्मृतित्वाविशेषेऽपि मन्वादि-स्मृतीनां कर्मकाण्ड-शेषत्वं तन्त्राणां तु ब्रह्म-काण्ड-शेषत्व-मिति।'

स्मृति कर्म्म-मयी और तन्त्र कर्म्म-ज्ञान-समुच्चय का उच्च साधन-पीठ है। इस तरह के ब्रह्म-शीर्षक आगम-मन्दिर का निर्माण सर्वज्ञ शिव के सिवा और किसी से सम्भव नहीं। इसी कारण कहीं-कहीं उन्हें 'अति-वर्ती' होकर धर्म्म-शास्त्र को लङ्घन करते देखकर राजा चित्रकेतु ने शिव-निन्दा की थी। श्रीमद्भागवत पढ़ने से यह बात मालूम होती है। उक्त निन्दा को श्रवण कर देवी भगवती कुपित होकर बोली थीं--

न वेद-धर्म्मं किल पद्म-योनिः
न ब्रह्म-पुत्रा न भृगु-नारदाद्याः।
न वै कुमारः कपिलो मुनिश्च
ये नो निषेधन्त्यति-वर्तिनं हरम्॥
येषामनुध्येय-पदाब्ज-युग्मं
जगद्-गुरुं मङ्गल-मङ्गलं स्वयं।
यः क्षत्र-बन्धुः परिभूय सूरीन्
प्रशास्ति धृष्टस्तदयं हि दण्डयः॥

अर्थात्—आश्चर्य है! पद्म-योनि ब्रह्मा धर्म नहीं जानते! ब्रह्म-पुत्र भृगु, नारदादि मुनियों को धर्म-ज्ञान नहीं है, सनत्कुमार एवं कपिल मुनि भी धर्मज्ञ नहीं हैं। हर--वे शास्त्रोल्लंघन करते रहते हैं—तथापि उन्हें उक्त मुनि, ऋषि लोग मना नहीं करते! अहो, जिनका पाद-पद्म-युग्म ब्रह्मावधि मुनि-वृन्दों का ध्येय है एवं जो स्वयं मङ्गल, सबके मङ्गल, अर्थात् परम धर्म-मूर्ति हैं, उन्हीं जगद्गुरु को यह क्षत्रिय-धर्म कुल-सूरियों को अर्थात् उपस्थित सभासदों को अनभिज्ञ समझकर शासन कर रहा है--यह दुष्ट इसी कारण से दण्ड पाने के योग्य है।

देवी भगवती को इस प्रकार कुपिता देखकर चित्रकेतु ने तब रसना संयत करके अवनत-मस्तक

होकर जगन्माता के मुख-विनिःसृत--'पापीयसीं योनिमासुरीं चाहीति'--अभिशाप को ग्रहण किया और हम क्या मूर्ख लोगों की तरह 'शिव-स्मृति' को लेकर तर्क करते रहेंगे या शारदातिलक-तन्त्रोक्त शिव-प्रणाम में युक्त-कर होकर कहेंगे--

तर्क-मार्गाति-दूराय तपसां फल-दायिने ।
चतुर्व्वर्ग-वदान्याय सर्वज्ञाय नमो नमः ॥

'तन्त्र'-वक्ता शिव की यह निसर्ग-दुर्बोध अप्रतिवर्तिता शास्त्र, साहित्य प्रभृति सर्व स्थान में स्तूयमान दिखाई देती है । भगवत्पाद शङ्कराचार्य ने जगन्माता की स्नान-परिकल्पना में तान्त्रिक एवं वैदिक दोनों मन्त्रों को एकत्र करके स्तव किया है--

मन्त्रांस्तान्त्रिक-वैदिकान्
परि-पठन सानन्दमत्यादरात ।

स्नानं ते परिकल्पयामि जननि !
स्नेहात् त्वमङ्गी-कुरु ॥

अन्तःपूजा के गम्भीर स्तर में श्रुति, स्मृति एवं साक्षात् श्रुति-स्वरूप 'तन्त्र' में विरोध का लेश भी नहीं है । 'तन्त्र'-पद्धति में सर्व-शास्त्रों की ध्वनि है । शिवोक्ति ही इसका प्रमाण है--

स सिद्धः सर्व-शास्त्रेषु सर्व-धर्म-विदां वरः ।
स ज्ञानी ब्रह्म-वित् साधुर्यस्तन्त्रं वेत्ति कालिके ॥

वेद और तन्त्र-धर्म

वेद-धर्म अपौरुषेय है । उसी तरह तन्त्र-धर्म भी अपौरुषेय है । ब्रह्मा जी ने वेद-धर्म का प्रादुर्भाव किया । उसी प्रकार तन्त्र-धर्म का आविर्भाव शिव जी ने किया । तन्त्र-धर्म की प्राचीनता का प्रमाण स्वयं प्रजापति दक्ष हैं । उन्होंने तन्त्र-धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में उसके प्रवर्तक शिव जी का विरोध किया था और उसके लिए उन्हें भला-बुरा भी कहा था, परन्तु तन्त्र-धर्म का प्रचार बराबर होता रहा । हाँ, यह सत्य है कि वह जिज्ञासुओं तक ही सीमित रहा । वसिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाज आदि अनेक प्रसिद्ध-प्रसिद्ध महर्षि तन्त्र-धर्म की साधनाओं के प्रेमी थे । इसी प्रकार अनेक राजर्षि तथा जन-समाज के साधारण व्यक्ति भी । इन सब बातों के प्रमाण पुराण तथा इतिहास-ग्रन्थों में पर्याप्त पाये जाते हैं ।

द्वापर के अन्त में जब महाराज जनमेजय ने नाग-यज्ञ का अनुष्ठान किया था, तब वह यज्ञ पूरा न हो सका । यज्ञ-कर्ता को उसे अपनी प्रतिज्ञा के फल-स्वरूप अधूरा ही छोड़ देना पड़ा । इस पर यज्ञ-कुण्ड में से अग्निदेव ने प्रगट होकर क्रोध के साथ ब्राह्मणों को शाप दिया कि 'अब तुम्हारे वैदिक यज्ञादि फल-प्रद नहीं होंगे ।' फलतः कालान्तर में भयानक धर्म-ग्लानि हुई । यह देखकर भगवान् शिव ने लोक-कल्याणार्थ तन्त्र-धर्म का पुनः प्रचार किया । आज के हमारे तान्त्रिक साहित्य का जन्म इसी समय हुआ था और इसका देश में व्यापक प्रचार भी हुआ ।

बाद को जब बौद्ध तथा जैन-धर्म का प्रचार हुआ और फल-स्वरूप वेद-धर्म का इस देश में बहुत कुछ ह्रास हो गया, तब भी तन्त्र-धर्म का प्रचार यहाँ बराबर बना रहा । इसका कारण यह था कि उक्त दोनों धर्मों के प्रवर्तक स्वयं तन्त्र-धर्म के अनुयायी थे । उन दोनों धर्मों में उनके अपने-अपने तन्त्र-ग्रन्थ हैं और उनमें तान्त्रिक पद्धति के अनुसार यजन-पूजन भी होता है । बौद्धों में भगवती तारा और जैनों में भगवती पद्मावती का यजन-पूजन बराबर

होता रहा है । यह सब हमारे तन्त्र-धर्म का हो प्रभाव था।

इधर जब आदि शंकराचार्य के समय में धर्म का नव सङ्गठन हुआ, तब उन्होंने भी वैदिक धर्म के नाम से तन्त्र-धर्म को ही आधार मानकर अपना धार्मिक प्रचार किया था। उनके चारों मठों में श्री यन्त्र स्थापित है और उनमें तान्त्रिक विधि से ही उसका यजन-पूजन भी होता है। उनके अनुयायी दसनामी संन्यासियों में अनेक ने तन्त्र-विषयक ग्रन्थों की रचना की है। यह भी कहा जाता है कि प्रपञ्चसार तन्त्र की रचना स्वयं आदि शङ्कराचार्य ने की है। शृङ्गेरी मठ के पञ्चदशी के प्रणेता प्रसिद्ध शङ्कराचार्य द्वारा प्रणीत 'क्षमापण स्तोत्र' को कौन नहीं जानता !

इसके अतिरिक्त हिन्दू-धर्म के अन्य सम्प्रदायों के सङ्गठनों में तान्त्रिक पद्धति का पूरा-पूरा आधार लिया गया है। वैष्णवों ने तान्त्रिक पद्धति को हो नहीं ग्रहण किया, किन्तु उन्होंने अपने सम्प्रदाय के लिए पञ्चरात्र आदि तन्त्रों को भी पृथक् रूप से प्राप्त कर लिया। अब रहे सन्त-मत, सो उनका गुरु-तत्व और ध्यान-तत्व तन्त्र की ही देन है।

सारांश यह है कि आज भी भारत में तन्त्र-धर्म की पूर्ण प्रतिष्ठा है। उसकी परम्परागत पूजन-पद्धति ज्यों-की-त्यों इस देश के परम्परावादी धार्मिक जिज्ञासुओं में प्रचलित है। अब रहे सुधारवादी नव हिन्दू, वे सब भी यदि उसके आचार को नहीं ग्रहण करते, तो उसके मूल को तो मानते ही हैं।

यह सब देखते हुए यह कहना अनुचित न होगा कि आज के भारत में तन्त्र-धर्म का ही व्यापक रूप से प्रचार है। तान्त्रिक उपासकों के अतिरिक्त अन्यान्य सम्प्रदायों के जो धार्मिक अनुष्ठान समय-समय पर होते रहते हैं, उन सबमें भी तान्त्रिक पद्धति की उपासना की ही प्रधानता दिखाई देती है। इस प्रकार हम यह देखते हैं कि सृष्टि के आदि से लेकर अब तक वैदिक धर्म के साथ-साथ तन्त्र-धर्म का भारत को पुण्य भूमि में अविच्छिन्न रूप से प्रचार बना हुआ है और यही उसका अपना विशेष महत्व है।

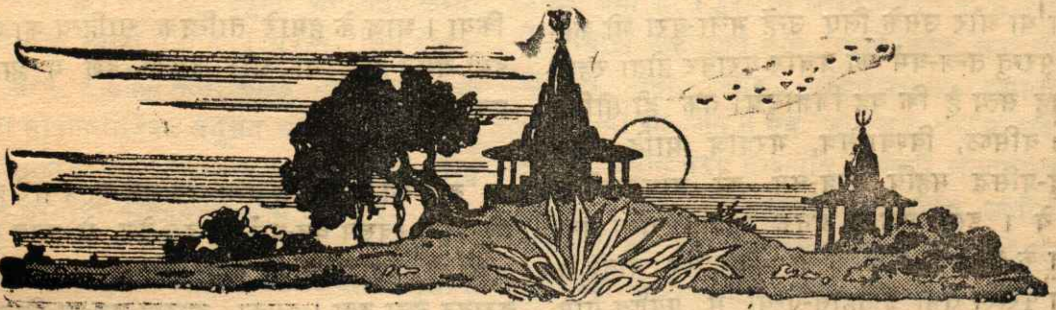

आगम-प्रामाण्य

भारतीय तत्व-ज्ञान के शास्त्रों में हर एक इतरानपेक्ष मोक्ष-साधक माना गया है। मोक्ष ही सकल पुरुषार्थों में श्रेष्ठ है। इस कारण मोक्ष की प्राप्ति के लिए जिस किसी की उपासना की जाए, वही ईश्वर और जो कुछ उपासना जैसी की जाए, वही उस तत्व-शास्त्र का स्वाभिमत मोक्ष-साधक मार्ग है।

वैदिक वाङ्मय सारे जगत् में सबसे प्राचीन माना गया है। वेदों के अन्त्य भाग अर्थात् वेदान्त=उपनिषत् साक्षात् मोक्ष-साधक होने में अधिक प्रसिद्ध हैं। वेदान्ती ईश्वर को 'एक, अद्वितीय, स्वयं-प्रकाश, ज्ञानात्मक' कहते हैं। सांख्य तत्व-ज्ञानी ईश्वर को 'प्रथमतः चिद्रूप, नित्य, चेतन-स्वभाव' कहते हैं।

प्रकृति स्वभावतः अचेतन होने पर भी उपाधिवशात् चेतन है और परिणामि नित्य है। ऐसा ईश्वर नहीं है, यह उनका अभिप्राय है। पातंजल योगी ईश्वर को 'अविद्यादि क्लेश, भावना-साध्य याग-हिंसादि कर्म जात्यायुर्भोग, धर्माधर्म इत्यादि लेप-रहित, केवल वैदिक सम्प्रदाय का प्रवर्तन करने के लिए शरीर धारण करके अनुग्रह करनेवाला' कहते हैं। शैव उसको शिव अर्थात् त्रिगुण-रहित मानते हैं। वैष्णव ईश्वर को सर्वज्ञ होने के कारण पुरुषोत्तम समझते हैं। पौराणिक उसको पितामह अर्थात् जनक का भी जनक मानते हैं। याज्ञिक उसी को यज्ञ-पुरुष=यज्ञ में प्रधान पूज्य मानते हैं। मीमांसक उसको वेदोपदिष्टोपास्य मन्त्र-रूप कहते हैं। नैयायिक उसी को यावदुक्तोपपन्न अर्थात् ईश्वर के लिए जो कुछ कहा जा सकता है, उसमें जो अधिक उपपन्न सयुक्तिक हो और सर्वज्ञत्वादि धर्मों से सम्पन्न हो, उसी को ईश्वर मानते हैं। दिगम्बर ईश्वर को 'निरावरण=अदृष्ट, अविद्या, स्वकर्मोपार्जित शरीर इत्यादि से रहित कहते हैं।

इनके विरुद्ध एक अन्य मार्ग भी है। उसके विचार में ईश्वर लौकिक वैदिक मार्ग-विरुद्ध आचरणशील रहने पर भी पाप-रूप लेप-रहित है अर्थात् वेदविरुद्ध कर्माचरण से, जो भोग-जनक विशेष गुण सुख-दुःख, धर्माधर्मादि उत्पन्न होते हैं, उनसे रहित ईश्वर है। आत्म-भूमि में मिथ्या-रूपी जल का प्रवाह बहाने से धर्म और अधर्म के अङ्कुर उत्पन्न होते हैं। तत्व-ज्ञान की प्रखर उष्णता से समस्त जल का शोषण होने पर ऊसर भूमि में धर्म अथवा अधर्म का अङ्कुर ही उत्पन्न नहीं हो सकता। इस प्रकार निर्लेप होने पर भी ईश्वर स्वतन्त्र है। जगत् के सृष्टि-स्थिति-लय में वह इतर-निरपेक्ष समर्थ है।

इस प्रकार परस्पर-विरुद्ध सिद्धान्त प्रतिपादन करने पर भी ये अनेक सम्प्रदाय मोक्ष-दायक होने के कारण ईश्वर के विषय में एकार्थ-प्रतिपादक ही हो जाते हैं। मीमांसा, निरीश्वर सांख्य, चार्वाक प्रभृति शास्त्रों में ईश्वर का अस्तित्व माना नहीं जाता, तथापि उपास्य-रूप एक धर्मी तो माना ही जाता है। यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार श्रुति, स्मृतीतिहास, पुराणादि-सम्मत सम्प्रदायानुसार श्रद्धा-पूर्ण स्वकर्त्तव्याचरण से, मनन-निदिध्यास से, योगाभ्यास से ईश्वर-प्रसाद प्राप्त होता है, उसी प्रकार लोक-वेद-विरुद्धाचरण करने पर भी निलिप्त होकर शुद्ध चैतन्यानन्दानुभव से ईश्वर को प्राप्त करना शक्य है। वैदिक और अवैदिक ये दोनों आपाततः परस्पर-विरुद्ध मार्ग हैं तथापि वास्तविक-रीत्या इन दोनों में भी एक सूक्ष्म तत्व साधारण है। अनासक्ति, आत्म-तृप्ति इत्यादि गुण दोनों में ही अवश्य हैं। वैदिकाचार में इन्द्रिय-निग्रह-पूर्वक निषिद्धाचार त्याज्य है। अवैदिकाचार में इन्द्रिय-निग्रह-पूर्वक

निषिद्धाचार ग्राह्य है । यही दक्षिणाचार और वामाचार का सूक्ष्म रहस्य कहा जा सकता है। वामागमों का यह सिद्धान्त है कि कर्म-मार्ग, भक्ति-मार्ग, योग-मार्ग अथवा ज्ञान-मार्ग से पूर्णानन्द-प्राप्ति नहीं होती है। इसके लिये शक्ति की आवश्यकता है। यह प्रतिपादन किया गया है कि—

क्रिया-मार्गी क्रियासक्तः पञ्च-तत्वेषु लुब्धकः ।
ज्ञान-मार्गी मितत्वाक्तः केवलानन्द-लुब्धकः ॥
भावातोतो ज्ञानमार्गी भावातीतं हि मैथुनम् ।
भावातीतं पिवेन्मद्यं सर्व-प्राणि-हिते रतः ॥

इसका सारांश यह है कि केवल वैदिकाचार-निरत कर्म मार्गी तो आत्म-ज्ञान-रहित और सतत क्रियासक्त रहता है। आत्म-ज्ञान ही उसको नहीं है तो आत्मानन्द की प्राप्ति कैसे होगी ? उसका धर्म क्रिया-रूपी होता है (चोदना-लक्षणोऽर्थो धर्मः) । उसके धर्म का सांगानुष्ठान करानेवाला शास्त्र मीमांसा शास्त्र है क्योंकि—

धर्मे प्रमीयमाणे तु वेदेन करणात्मना।
इति कर्तव्यता भागं मीमांसा पूरयिष्यति ॥

यह उनकी प्रणाली है। मीमांसा तो ईश्वर का अस्तित्व ही नहीं मानता—

बन्ध-मोक्षौ सृष्टि-लयावीश्वरस्य कर्तताम् ।
जीवानां तार-तम्यं च शास्त्र-कृत् नैव मन्यते ॥

यह उनका सिद्धान्त है। महाकवि श्री हर्ष ने नैषध में क्या अच्छा कहा है—

वेदैर्वचोभिरखिलैः कृत-कीर्ति-रत्ने ।
हेतुं विनैव धृत-नित्य-परार्थ-यत्ने ॥
मीमांसयेव भगवत्यमृतांशु-मौलौ।
तस्मिन् महीभुजि तयानुमतिर्न भेजे ॥

दमयन्ती ने स्वयंवर के समय कुश-द्वीप के नायक ज्योतिष्मन् नामक राजा को देखकर अपना मुख उसी प्रकार फेर लिया, जिस प्रकार से मीमांसा ने समस्त वेदों में जिसकी स्तुति की गई है, ऐसे रत्न को किसी हेतु के बिना आत्म-लाभ का गन्ध भी न होते हुये सतत लोक-हित में निरत ऐसे परम कारुणिक चन्द्रमौलि शङ्कर को देखकर मुख फेर लिया । अर्थात्—ईश्वर के अस्तित्व को नहीं माना ।

एवं कर्म-मार्गी को आनन्दानुभव प्राप्त नहीं होता है। भक्ति कर्म से श्रेष्ठ है परन्तु उससे भी आनन्द नहीं प्राप्त होता। योग से भी नहीं होता। ज्ञानार्णव तन्त्र, पटल २, श्लोक ३० में यह प्रमाण है—

सुषुम्ना-वर्त्मना नित्यमक्ष-वृत्ति जुहोम्यहम् ।

कुण्डलिनी-उत्थान के लिए शक्ति की ही आवश्यकता है । शक्ति ही आनन्द है। शक्ति शिव का अङ्ग है। शिव और शक्ति में अविना-भाव सम्बन्ध है। सर्वोल्लास तन्त्र में मातृकाभेद-तन्त्रोद्धृत वचन यह है—

अधमः कर्म-भीतश्च भक्ति-भीतश्च मध्यमः ।
उत्तमो मोक्ष-भीतश्च भीतो नास्त्युत्तमोत्तमः ॥

वेदान्ती का जीव-शिवैक्य भी शक्ति-ज्ञानाधीन ही है। यह कहा गया है कि—

मद्य-पानं विना देवि तत्व-ज्ञानं न लभ्यते ।

इस प्रकार भक्ति-योग और ज्ञान—ये मार्ग भी पूर्णानन्द-प्राप्ति के लिए समर्थ नहीं हैं।

ये हैं आगम के सिद्धान्त-वाक्य। अब हम, इन आगम-वाक्यों को किस प्रकार से प्रामाण्य प्राप्त होता है, इसका शास्त्रीय दृष्टया विचार करेंगे। आगम स्वतः प्रमाण हैं अथवा परतः प्रमाण हैं ? आगम वेद तो नहीं हैं, वेद से भिन्न हैं । जब आगम श्रुति नहीं हैं तो क्या वे स्मृति हो सकते हैं ? उनका स्मृति में अन्तर्भाव होता तो वे अप्रमाण होंगे क्योंकि 'विरोधे त्वपदेशं स्याद् सति ह्यनुमानम्' ऐसा सिद्धान्त है। इसलिए यह कहना पड़ता है कि आगम को स्मृति नहीं किन्तु आचार-परम्परागत प्रामाण्य है परन्तु यह भी ठीक नहीं है।

शास्त्र-कारों ने श्रुति-स्मृति-मूलक सदाचार को ही प्रमाण माना है। वेदों के विषय में दो भिन्न दृष्टि-कोण हैं। मीमांसा शास्त्र वेद को अपौरुषेय मानता है। वेद ईश्वर-निर्मित नहीं है (प्रायः इसी कारण मीमांसा को नास्तिक कहा गया है)। मीमांसा ईश्वर का अत्यन्त अभाव नहीं प्रति-पादन करता। मीमांसा शास्त्र के प्रवर्तक भट्ट कुमारिल ने अपने अमूल्य ग्रन्थ श्लोक-वार्तिक के प्रारम्भ में 'विशुद्ध ज्ञानहेतवे' ऐसा शिव जी का मङ्गल किया है)। आगम तो ईश्वर-निर्मित हैं। इसलिए आगम वेद नहीं हैं किन्तु वेद-तुल्य हैं। दूसरा दृष्टिकोण न्याय-शास्त्र का है। वह वेद को ईश्वर-निर्मित आप्त-वाक्य होने से प्रमाण मानता है। यही परतः प्रामाण्य है। आगम ईश्वर-प्रोक्त होने के कारण इस श्रेणी में आ जाते हैं परन्तु विरुद्धाचरण का प्रश्न रह जाता है, उसका विचार अनन्तर होगा।

ऊपर बताये हुए आगम-वाक्य के अनुसार एक विचार उपस्थित होता है। वह यह कि कर्म-योग-भक्ति-ज्ञान इन सब मार्गों में ईश्वर-प्राप्ति के मार्ग इतरानपेक्ष बताये गये हैं। उन्हीं से मोक्ष-प्राप्ति हो सकती है तो आगम की आवश्यकता क्यों है? आगम का अन्तिम उद्देश्य पूर्णानन्द मोक्ष-प्राप्ति ही है तो इसका अन्तर्भाव उनमें से किसी एक में हो सकता है। 'सोहं पूजोत्तमोत्तमा' इस वाक्य से विदित है कि 'तत्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि महा-वाक्यों के मनन-निदिध्यासादि से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उसकी आवश्यकता आगम के उत्तमोत्तम पूजाधिकार-प्राप्ति के लिए आवश्यक है। सिद्धनाथ संहिता में—

अद्वैत-ज्ञान-निष्ठो यः सोऽसौ संसार-पारगः।
स एव यतेद् दूत्या नाधिकारी परो भवेत्॥

इस प्रकार अधिकार-निरूपण है। इससे स्पष्ट होता है कि वेदान्त आगम का मुख्य उपजीव्य है। जब अद्वैत-ज्ञान से ही वह संसार-सागर-तीर्ण हो जाता है तो उसको इष्ट-सिद्धि हो गई। आगमोक्त विधि के अनुष्ठान को उसको आवश्यकता नहीं रहती है—

गङ्गा-यमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेद्यस्तु स भवेन्मत्स्य-साधकः॥

यदि यही पञ्च-मकार का रहस्य है और मत्स्य का लक्ष्यार्थ इडा और पिङ्गला हैं तो यह वाक्य पर्यायोक्त्यलंकार-गर्भित हुआ। इससे योग-शास्त्र को ही महती प्राप्त हो जाती है—

प्रेम-पूर्व-मनु-ध्यानं भक्तिरित्यभिधीयते।

यह भक्ति का लक्षण है। इसी से कैवल्य-प्राप्ति होती है। इस को त्याग करके आगमोक्त विधि की क्या आवश्यकता है?

इस प्रकार ज्ञान-योग-भक्ति इनमें प्रत्येक से आगम को अन्यथा-सिद्धि प्राप्त होती है।

अब कर्म-मार्ग-रीत्या विचार करेंगे—सर्वोल्लास तन्त्र-उल्लास २३ में—

मद्य-पानं विना देवि तत्व-ज्ञानं न लभ्यते।

इस प्रकार स्पष्ट विधान है। मद्य-पान के बिना तत्व-ज्ञान ही नहीं होता! तत्व-ज्ञान की प्राप्ति के लिये अन्य-अन्य साधन हैं। वैदिक कर्मानुष्ठान, केवल भक्ति, औपनिषत् ब्रह्म का अनुसंधान, अष्टांग-योग इत्यादि साधनों में प्रत्येक से भी ज्ञान-सिद्धि होती है। यह वस्तु-स्थिति रहने पर भी मद्य-पान के बिना तत्व-ज्ञान का लाभ नहीं होता है, ऐसा विधान क्यों? यह नियम-विधि है। 'नियमः पाक्षिके सति' यह उसका लक्षण है। किसी कार्य के साधने के लिये दो या दो से अधिक साधन एक ही समय प्राप्त हो जाएँ तो उनमें से किसी एक का ही अवलम्बन करें, ऐसी आज्ञा ही नियम-विधि है। 'व्रीहीन-वहंति' इत्यादि वाक्य से यह स्पष्ट होता है कि वितुषी-करण अर्थात् धान का भूसा निकालकर स्वच्छ चावल तैयार करने के अनेक साधन रहने पर भी यज्ञ में धान कूट कर ही चावल निकाले जाते हैं। नियम-विधि से अनुष्ठेय कर्म का महत्व अधिक बलवान् होता है। कर्म को महत्व प्राप्त होने से देवता गौण हो जाती है। 'यागस्य द्वे रूपे द्रव्यं

देवता च', इस सिद्धान्त के अनुसार द्रव्य और देवता दोनों याग के अङ्ग हो जाते हैं। अब प्रश्न यह है कि मोक्ष-फल की प्राप्ति किससे होती है? याग यज् धातु से बना है। 'यज् देवता-पूजन-सङ्गति करण-दानेषु' इस प्रमाण से याग का अर्थ देवता-पूजन है। पूजा से प्रसन्न होकर देवता फल देती है अर्थात् याग देवता के आराधन के लिये है।

१—तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिः तर्पयति,
२—दधत् पोषं रयिम

इत्यादि प्रमाण भी दिये जाते हैं परन्तु यह शास्त्र-कार को सम्मत नहीं है। कर्म प्रधान है, देवता गौण है—'अपि वा शब्द-पूर्वत्वात् यज्ञ-कर्म प्रधानं स्यात् गुणत्वे देवता—श्रुतिः।'

जैमिनी, अध्याय १, अधिकरण सूत्र

यह सिद्धान्त है। पार्थ सारथि मिश्र ने शास्त्र-दीपिका में इस सूत्र का भावार्थ स्पष्ट किया है—

यागस्यैव पद-श्रुत्या फल-साधनतोच्यते।
देवतायाश्च तादर्थ्यं तन्निर्वत्युरयोगतः॥
यागश्च साध्य-रूपत्वात् साधनत्वेन देवताम्।
गृह्णाति सिद्ध-रूपा च देवता तस्य साधनम्।

देवता फल नहीं देती है। याग से ही अर्थात् कर्म से ही फल की प्राप्ति होती है। देवता का काम केवल याग-निर्वृत्ति कर्म का कराना भर ही है। युद्ध में विजय प्राप्त होने के अनन्तर यह कहना कि सेनापति ने गाँव जागीर में दिया। इस प्रकार देवता का फल देना है। याग से अपूर्व प्राप्त होता है। वही फल देता है, यह सिद्धान्त है।

देवता स्वयं ही तपश्चरण ऋत्वनुष्ठानादि कर्म करते हैं, तो वे फल क्या दे सकते हैं? देवता को याग-निर्वृत्ति द्वारा ही फलोपयिकत्व प्राप्त होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि पञ्च-तत्व-विधान से देवता का महत्व ही नहीं रहता—

१—स्वर्गस्तथाग्निश्च नहि प्रयोक्ता
२—न देवता कर्मणि तु प्रधानम्

इत्यादि मण्डन मिश्र कारिका से भी यही सिद्ध होता है। सारांश यह है कि 'मद्य-पानं विना देवि' इस वाक्य से एक तो कर्म-भक्ति-ज्ञान-योग इत्यादि शास्त्रों के जो प्रति-तन्त्र-सिद्धान्त हैं, उनका बिना किसी कारण के उपमर्द होता है और कर्म को ही महत्व प्राप्त होकर देवता अत्यन्त गौण हो जाती है। इस कारण नियम-विधि की दृष्टि छोड़कर दूसरे प्रकार से इस वाक्य पर विचार करेंगे—

श्रीमद्भागवत में एक अमूल्य श्लोक मिलता है—

लोके व्यवायामिष-मद्य-सेवा स्वतः प्रवृत्तिर्नहि तत्र चोदना। व्यवस्थितिस्तेषु विवाह-यज्ञ-सौत्रामणेरासुर-वृत्तिरिष्टा॥

इससे यह विदित होता है कि मनुष्य मात्र की प्रवृत्ति स्वभावतः मद्य-मांस, स्त्री-सङ्ग की तरफ होती है। 'परांचिखानि व्यतृणत् स्वयम्भू' (काठको-पनिषत्)। उसका नियमन अवश्य है। रागतः प्राप्त का निषेध करके वैध प्राप्त कर्माचरण में प्रेरित करना शास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। इस कारण विवाह, अग्निषोमीय, सौत्रामणि के विधान से क्रमशः राग-प्राप्त मैथुन, मांस-भक्षण, मद्य-पानादि में यथेष्ट प्रवृत्ति को घटाया गया है। यह भी एक प्रकार की नियम-विधि ही है।

यदि हम यह कल्पना करें कि इस प्रकार से स्वैर प्रवृत्ति का नियमन करने के लिए ही आगम-मार्ग में पञ्च-मकार का विधान है, तब भी ठीक न होगा।

आगमोक्त अनुष्ठान-पद्धति में 'भाव' को सबसे श्रेष्ठ माना गया है—'भावस्तु मानसो धर्मः।' वह शब्द से नहीं कहा जा सकता—'शब्दस्य हि कथं भवेत्।' (सर्वोल्लास तन्त्र, उल्लास ७)। भाव के साथ आचार अर्थात् क्रिया को जोड़ने से भाव के तीन भेद हो जाते हैं—१ पशु, २ वीर, ३ दिव्य।

इसका स्पष्टीकरण यह है—

भाव (परब्रह्म)—क्रिया

- पशु
  - सभाव पशु
    - वैदिक
    - वैष्णव
    - शैव
  - विभाव पशु
- वीर
  - सभाव वीर
  - विभाव वीर
    - वैदिक
    - वैष्णव
    - शैव
- दिव्य

भाव की महिमा यह है—

भावं विना वरारोहे फल-भाक् जायते यदि ।
नपुंसकस्य जाया किं पत्यानन्द-विवर्धिनी ॥

सभाव अदीक्षित पशु है, विभाव दीक्षित पशु है । 'सर्वानन्द-तरङ्गिणी' में यह कहा गया है कि--

साधकाः पुंस-देवानां सभाव-पशवः स्मृतः ।
साधकाः शक्ति-देव्यश्च भाव-त्रय-युताः स्मृताः ॥

'कौल-मार्ग-रहस्य' में यह उल्लेख है कि दक्षिणाचार पशु-भाव से सम्बद्ध है । सर्वोल्लास तन्त्र में बताया गया है कि--

कौलानां नियमो नास्ति निषेधस्य विधेः शिवे ।

यदि हम यह कहें कि रागतः प्रकृति के नियमन के लिए ही पञ्चमकारानुष्ठान है, तो वह सभाव पशु ही रह जायगा । वीर और दिव्य-भाव में इन्द्रिय-लोलुपता नहीं रहती है। इस प्रकार से भी पञ्च-मकार का समर्थन विशेष फल-दायी नहीं हुआ ।

तीसरी उपपत्ति सौलभ्योत्पादन है । कर्म-भक्ति-योग-ज्ञान के कठिनतर इन्द्रिय-निग्रह, कृच्छ्र-चांद्रायणादि शरीर-शोषण, आसन-प्राणायामादि, सतताभ्यास इत्यादि क्लिष्ट कर्म से जिस ब्रह्म की प्राप्ति की आशा है, वह इस सुलभ और सन्तोष-दायक मार्ग से निश्चय ही प्राप्त होता है । इसी कारण इसकी व्याप्ति अन्यान्य सम्प्रदायों में भी है । वैदिक सम्प्रदाय में याज्ञिक शैव--वैष्णव पद्धति में और अवैदिक में बौद्ध जैन पद्धति में यह आचार है ।

सौत्रामणि, वाजपेय प्रभृति यागों में सुरा-पान की विधि है । महा-व्रत में ब्रह्मचारी का पुंश्चली के साथ मैथुन-विधि है । शैव-वैष्णवों में भी एक दूसरे प्रकार से यह सम्प्रदाय प्रचलित है । बौद्ध-धर्म में इसका प्रचार है । देखिये गुह्य-समाज-तन्त्र ।

सौलभ्योत्पादन स्वेच्छा विहार नहीं है । नाम मात्र ही सौलभ्य है । वास्तविक रीत्या यह बहुत कठिन है । मद्य-पान करने पर भी नशा न चढ़े; स्त्री के साथ सहवास होने पर भी वह काम-वासना के लिये न हो किन्तु अर्चन-विधि का अंग समझकर किया जाय; इस भावना से मकार-पञ्चक का विनियोग हो, तो विषयोपभोग की कल्पना तक नहीं पैदा होती । जो कुछ किया जाता है, विषयातीत अवस्था में निःस्वार्थ बुद्धि से अर्चना-विधि का अङ्ग समझकर सेवा की भावना से ईश्वर-तृप्ति के किये किया जाता है । ऐसी उच्च भावना से प्रेरित होकर जो काम भी किया जाय, वह पवित्र है । भाव ही प्रधान है, क्रिया अकिंचित्कर है । एक कवि ने कहा है--

वसति हि प्रेम्णि गुणा न वस्तुनि ।
(काव्यप्रकाश, सप्तमोल्लास)

तत्वार्थ यह है कि यदि मद्य-मांसादि विषयोपभोग के लिए न रहें, तो वे निन्द्य भी नहीं हैं और निषिद्ध भी नहीं हैं। इसका रहस्य यह है कि परम-तत्व की प्राप्ति के लिये विहित कार्य किया जाय, तो वह अच्छा ही है। निषिद्ध-कार्य किया जाय और उससे परम-तत्व का लाभ होता है, तो वह भी उपादेय हो जाता है। विहित कार्य का पूर्ण अनुष्ठान होने पर भी यदि परम-तत्व सिद्ध न हो, तो विहित कार्य भी गर्हणीय हो जाता है।

श्रीमद्भागवत में कहा है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथाश्रयाम्।
नोत्पादयेत् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

इसी प्रकार निषिद्ध कर्म किया जाय और उससे परम तत्व का लाभ न हो, तो वह अत्यन्त गर्हणीय हो जाता है। सर्वोल्लास तन्त्र में कहा है—

वृथा-पानं महत् पापं सर्व-शास्त्रस्य सम्मतम्।
ज्ञानस्य कारणं मद्यं मद्यं ज्ञानस्य नाशकम्॥
वायुना ज्वलितोऽग्निश्च वायुना लयवान् यथा।
देवतार्थे पिबेन्मद्यं स्वानन्दार्थे पिबेद्यदि।
तत्पानं कारणं पानं तदन्यत् विष-भक्षणम्॥

परन्तु इस परमोच्च और पवित्र भावना से काम करना सरल नहीं है। ब्रह्मचर्य, कृच्छ्रादि तीव्र तपश्चर्या से भी यह कठिन है। महाकवि कालिदास ने कहा है—

विकार-हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतसि, त एव धीराः।—(कुमार-सम्भव)

ऐसी उपासना करनेवाले ही धीर हैं। इसीलिए उसे वीरोपासना कहते हैं। इस प्रकार अनुभव से आगम को प्रामाण्य प्राप्त होता है।

अब यह आक्षेप रहा कि सन्मार्ग से सत्फल की प्राप्ति नहीं होती, तो जान-बूझकर असन्मार्ग का अवलम्बन कर उससे सत्फल की इच्छा करने का क्या अर्थ है? इसका उत्तर यही है कि इसमें भ सर्व-व्याप्त परमेश्वर की प्राप्ति का मार्ग है। इस कारण यह भी उपादेय है—'फल-मुख-गौरवस्यादोषत्वात्'। यह सिद्धान्त है।

वास्तव में परमेश्वर सर्वान्तर्यामी, निर्लेप, आनन्द-पूर्ण है। ऐसे परमोच्च स्थान की दृष्टि से इतर सर्व गौण और तुच्छ हैं। वह द्वन्द्वातीत है, स्वतन्त्र है और अनन्त है, तो उसकी प्राप्ति के मार्ग भी अनन्त हैं। मार्ग का स्वरूप कैसा भी हो, वह प्राप्तव्य स्थान को ले जाता है।

तारा-भक्ति-सुधार्णव में लिङ्ग पुराण का निम्नलिखित प्रमाण उद्धृत किया गया है, जो अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

............................गूढमप्राज्ञ-निन्दितम्।
वर्णाश्रम-कृतैर्धर्मैर्विपरीतं क्वचित् समम्॥
शिवेन कथितं शास्त्रं धर्म-कामार्थ-मुक्तये॥

यहाँ 'गूढ़'-शब्द का अर्थ है अनभिव्यक्त तात्पर्य = जिसका भावार्थ स्पष्ट न बताया गया हो। इसी प्रकार 'अप्राज्ञ-निन्दितम्' का अर्थ है 'तात्पर्यानभिज्ञ-निन्दितम्' = ऐसे लोगों ने निन्दा की, जो मूल भावार्थ को समझते ही नहीं थे।

आगम-शास्त्र में कहीं वर्णाश्रम धर्म के अत्यन्त विपरीत वर्णन मिलता है, तो कहीं उसके अनुकूल भी विधान है। इस कारण मूल तात्पर्य कहीं स्पष्ट व्यक्त होता है और कहीं वह स्पष्ट नहीं भी होता। इसलिए रहस्य को न समझकर निन्दा करना उचित नहीं है। इस प्रकार आगम शास्त्र में जो कुछ है, वह ज्ञानी के लिए सर्वथा उपयुक्त और प्रामाणिक है।

तन्त्र-साहित्य

'तन्त्र' के नाम से भारतीय लोग भले प्रकार परिचित हैं परन्तु इससे जो आशय प्रायः लिया जाता है, वह बहुत संकुचित होता है। कारण यह है कि एक तो पल्लव-ग्राही मनोवृत्ति का आजकल अधिक प्रसार है और दूसरे वास्तविक तत्त्व का दिग्दर्शन करानेवाले विद्वान् का अभाव है। जो विद्वान् प्रकाश डाल भी सकते हैं, वे अपने पाण्डित्य के चक्कर में पड़कर ऐसी व्याख्यायें प्रस्तुत कर देते हैं, जिनके समझने के लिए उनकी अलग से टीका की सहायता लेने की आवश्यकता जान पड़ती है।

'तन्त्र' का वास्तविक आशय है क्या ? यदि इसके शाब्दिक रूप की ओर ध्यान दिया जाय, तो कोष में इसके अर्थ विधि, नियम और शास्त्र आदि मिलेंगे। इसी के अनुसार श्री शङ्कराचार्य ने सांख्य को भी तन्त्र ही माना है। 'तन्त्र' शब्द की व्युत्पत्ति काशिका वृत्ति (७-२-६) में दी है। उसमें लिखा है कि यह शब्द 'तन्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है फैलाना। सर्वश्री वाचस्पति, आनन्दगिरि और गोविन्दानन्द के अनुसार उक्त शब्द 'तत्र' या 'तंत्र' धातु से बना है, जिसका अर्थ है व्युत्पादन। गण-पाठ में 'तंत्र' का वही अर्थ है, जो 'तन्' का है। अतएव सम्भव है कि बाद की धातु का विचार पहलेवाली धातु से ही अस्तित्व में आया हो। 'व्युत्पादन' का भाव भी 'विस्तार' के प्रचलित अर्थ को संकुचित करके लिया गया जान पड़ता है।

'तन्त्र' को यदि 'तन्' धातु से बना माना जाये, जिसका अर्थ फैलाना है, तो 'तन्त्र' की परिभाषा यही होगी कि यह वह शास्त्र है, जिसके द्वारा ज्ञान का विस्तार होता है—'तन्यते, विस्तार्यते ज्ञानमनेन, इति तन्त्रम्।' 'त्र' प्रत्यय का अर्थ है बचाना। अतः वह ज्ञान फैलता है, जिससे लोगों की रक्षा हो। ऐसा धार्मिक ज्ञान के सिवा और कौन ज्ञान हो सकता है ? अतएव 'तन्त्र' शब्द से एक विशिष्ट धर्मशास्त्र का ही बोध होता है। शैव सिद्धान्त (तन्त्रान्तर पटल) के कामिकागम में लिखा है—

> तनोति विपुलानर्थान् तत्त्व-मन्त्र-समन्वितान्।
> त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते॥

अर्थात् 'तत्व' और 'मन्त्र'—सम्बन्धी महान् ज्ञान को प्रचरित करता है और रक्षा करता है; इससे यह 'तन्त्र' कहा जाता है।

साधारणतया यह भ्रम लोगों में व्याप्त है कि 'तन्त्र' केवल शाक्तों या शक्ति के उपासकों के धर्म-ग्रन्थ का नाम है। पर ऐसा नहीं है। दूसरे आगम सम्प्रदायों के भी तन्त्र हैं, जैसे शैव तन्त्र, वैष्णव तन्त्र आदि। ये तन्त्र आगम शास्त्र हैं। कुछ का कहना है कि आगम से उन धर्म-ग्रन्थों का मतलब है, जिनमें सगुण—ईश्वर—की पूजा का वर्णन दिया गया है और यह पूजा उपनिषद्-काल के अन्त के समय में उद्घाटित हुई थी, इसलिए कि एक तो वैदिक आचार की मान्यता घट रही थी और दूसरे हिन्दू-समाज में ऐसे लोगों का बहुसंख्या में प्रवेश हो रहा था, जो उक्त आचार के अधिकारी नहीं थे। यह चर्चा ऐतिहासिक विवेचना का विषय है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात केवल यह है कि आगम सभी जातियों और स्त्री-पुरुष के लिए समान-रूप से विहित है और उसमें वैदिक आचार-जैसे बन्धन नहीं हैं।

उपर्युक्त प्रसंग में एक नया शब्द 'आचार' आया है। इसकी व्युत्पत्ति यहाँ समझ लेना ठीक ही होगा। यह शब्द 'चर' धातु से बना है; 'आ'

उपसर्ग नियन्त्रण के अर्थ में जुड़ा प्रतीत होता है। 'चर्' का अर्थ है 'चलना' या 'करना'। इस प्रकार 'आचार' का आशय प्रकट होता है अभ्यास, ढङ्ग या जीवन-क्रम, जिसके अनुसार साधक या कोई व्यक्ति किसी इच्छित उद्देश्य की प्राप्ति (सिद्धि) के लिए तन्त्र (साधना—अभ्यास) करता है।

इष्ट-देवता के भेद के अनुसार आगम के तीन मुख्य समूह हैं। साधक लोग क्रमशः शक्ति, शिव या विष्णु को अपना इष्ट मानकर साधना में लीन होते हैं। तदनुसार (१) शक्ति आगम, (२) शैव आगम और (३) वैष्णव आगम (पञ्च-रात्र)— ये तीन आगम पाये जाते हैं। तीसरे आगम को श्रीमदभागवत में सात्वत तन्त्र के नाम से कहा गया है। यथा—

तेनोक्तं सात्वतं तन्त्रं यज्ज्ञात्वा मुक्ति-भाग् भवेत।
यत्र स्त्री-शूद्र-दासानां संस्कारो वैष्णवः स्मृतः॥
(१०-९०, ३४)

कुछ आगम वैदिक कहे जाते हैं और कुछ अवैदिक। कूर्म पुराण (१६-१) में लिखा है कि कपाल, लाकुल, वाम, भैरव, पूर्व, पश्चिम, पञ्चरात्र, पाशुपत और अन्य कई अवैदिक आगम हैं। पाशुपत को लाकुल के समान वैदिक और अवैदिक दोनों बताया गया है। कूर्म पुराण (उत्तर भाग, अध्याय ३८) में लिखा है—

'मोक्ष के लिए मैंने पहले श्रौत (वैदिक) पाशुपत बनाया, जो श्रेष्ठ, सूक्ष्म, गुप्त और वेद-सार है। वेद-रत विद्वान् शिव पशुपति का मनन करे। मोक्षार्थी को इस पाशुपत योग की साधना करनी चाहिए। वेद-वाद-विरोधी पाशुपत, सोम, लाकुल और भैरव का भी उपदेश मैंने किया है। इनका अभ्यास नहीं करना चाहिए। ये वेद के बाहर हैं।' सनत्कुमार संहिता में लिखा है—

श्रौताश्रौत-विभेदेन द्विविधस्तु शिवागमः।
श्रुति-सार-मयः श्रौतः सः पुनर्द्विविधो मतः॥
स्वतन्त्र इतरश्चेति स्वतन्त्रो दशधा पुरा।
तथाष्टादशधा पश्चात् सिद्धान्त इति गीयते॥
इतरः श्रुति-सारः तु शत-कोटि-प्रविस्तरः।

अर्थात् शैवागम दो प्रकार का है—श्रौत और अश्रौत। श्रौत श्रुति-सार-मय है और दो तरह का है—स्वतन्त्र और इतर। पहले स्वतन्त्र दस प्रकार का है और तब सिद्धान्त अठारह प्रकार का (यह है शैव-सिद्धान्त आगम, जिसके २८ मूल आगम हैं और २०७ उपागम। यह शुद्धाद्वैत है क्योंकि इसमें विशेषण नहीं है।) इतर श्रुति-सार है और इसके प्रकार असंख्य हैं।

प्रस्तुत लेख का विषय शाक्तों के सिद्धान्त और पूजन-क्रम को ध्यान में रखते हुए ही ग्रहण किया गया है। अतएव उक्त प्रसङ्ग को अधिक विस्तार से लेना आवश्यक होगा। यह ज्ञातव्य है कि आगम की भाँति शैव, वैष्णव और शाक्त उपनिषद् भी हैं, जो अपने सिद्धान्तों के पक्ष का समर्थन करते हैं।

किसी भी सिद्धान्त को समझने के लिए दो बातों पर दृष्टि रखना जरूरी है। एक तो यह कि उस सिद्धान्त का समर्थक उसे किन युक्तियों के साथ प्रस्तुत करता है और दूसरी यह कि अन्य उस सिद्धान्त के सम्बन्ध में क्या कहते हैं। सभी आगम श्रुति को अपना आधार मानते हैं, फलतः श्रुति के विभिन्न अर्थ लगाये जाते हैं और एक अर्थ को माननेवाला दूसरे अर्थ को स्वभावतः अशुद्ध ठहराता है।

ऊपर कहे गये आगम के मुख्य भेदों के उपभेद भी हैं। इस प्रकार शैवों के कई सम्प्रदाय हैं। शाक्तों के भी नौ आम्नाय, चार सम्प्रदाय (केरल, काश्मीर गौड़ और विलास) हैं; इनमें से प्रत्येक बाह्य और अन्तर पूजन के भेद से दो प्रकार का है (सम्मोहन तन्त्र—अध्याय ५)। उदाहरण के लिए उत्तरी शैव सम्प्रदाय है, जिसे काश्मीर का 'त्रिक' भी कहते हैं; फिर दक्षिणी शैव सम्प्रदाय है, जो 'शैव-सिद्धान्त' के नाम से भी प्रसिद्ध है।

भारत में पाये जानेवाले शाक्त बङ्गाल और

आसाम में बहुसंख्या में हैं । शाक्त लोग उत्तर अद्वैत शैव लोगों से अन्यों की अपेक्षाकृत अधिक हिले-मिले हैं। शिव और शक्ति तो एक ही हैं और जो एक की पूजा करता है, वह दूसरे का अनिवार्य रूप से पूजक होता ही है। परन्तु जहाँ शैव शिव की पूजा मुख्यतः करता है, वहाँ शाक्त के पूजन में शक्ति को प्रधानता मिलती है। शाक्त शिव-शक्ति—उभयात्मक स्वरूपवाली अर्द्ध-नारीश्वर मूर्ति के शक्ति-भाग को ही मुख्य मानता है।

महाविष्णु और सदाशिव भी एक हैं। सम्मोहन तन्त्र (अध्याय ८) में लिखा है कि 'बिना प्रकृति के संसार नहीं हो सकता और पुरुष के बिना सच्चा ज्ञान नहीं मिल सकता । इसलिए दोनों की पूजा होनी चाहिए—महाकाली के साथ महाकाल की।' इसके अनुसार कुछ शिव को जपते हैं तो कुछ शक्ति को और कुछ नारायण (विष्णु) को परन्तु आदि-नारायण पर-शम्भु हैं; जो निर्गुण ब्रह्म स्फटिकवत् निर्मल हैं।

परा के दो स्वरूप एक-दूसरे में प्रतिबिम्बित होते हैं। प्रतिबिम्ब ही माया है, जिसमें से लोकपाल और लोक उत्पन्न होते हैं । आद्या ललिता (महाशक्ति) ने एक बार कृष्ण के और दूसरी बार राम के पुं-रूप को धारण किया क्योंकि भैरव महाकाल से एकीभूता महाकाली में सभी स्वरूप विद्यमान हैं; महाकाल ही महाविष्णु हैं। उक्त ग्रन्थ में लिखा है कि मूर्ख ही राम और शिव में भेद देखता है। शाक्त सिद्धान्त के उच्च वेदान्तिक भाव का यह द्योतक है।

आगमवादी शैवों और शाक्तों का एक समान दार्शनिक आधार है--३६ तत्वों का सिद्धान्त। कुलार्णव तन्त्र में इनका उल्लेख किया गया है। अन्य शाक्त ग्रन्थों में भी इनका वर्णन मिलता है; टीकाओं में भी जैसे आनन्द-लहरी में। शारदातिलक बङ्गाल के शाक्तों को विशेष मान्य है। इसके ग्रन्थकार लक्ष्मणाचार्य काश्मीर शैव सम्प्रदाय के आचार्य थे। काश्मीर शैव सम्प्रदाय के माननेवाले और शाक्त लोग अद्वैतवादी हैं। शैव सिद्धान्त और पञ्चरात्र क्रमशः शुद्धाद्वैत और विशिष्टाद्वैत-परक हैं। विभिन्न सम्प्रदायों के अनेक बौद्ध तन्त्र भी हैं—जैसे श्री चक्र संहार तन्त्र।

उक्त सभी सम्प्रदायों के अपने-अपने तन्त्र हैं। शैव सम्प्रदायों का मौलिक सम्बन्ध अन्य बातों के सिवा इस तथ्य से दर्शाया जाता है कि कुछ तन्त्र उन सबको मान्य हैं जैसे मृगेन्द्र और मतङ्ग तन्त्र। कहा जाता है कि शाक्त सम्प्रदाय का शैवों से ऐतिहासिक सम्बन्ध नहीं है, यद्यपि कोई कारण नहीं बताया जाता । शाक्त-सम्प्रदाय की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऐतिहासिक तथ्य जो भी हों, पर आज यह एक सत्य बात है कि शैव दर्शन के कुछ सिद्धान्तों को समझे बिना शाक्त-साहित्य के कुछ अंश दुर्बोध प्रतीत होते हैं। यही देखिये कि दोनों ही सम्प्रदायों में ३६ तत्त्वों और षडध्व के सिद्धान्त समान रूप से मिलते हैं।

शाक्त शास्त्र के तीन मण्डल माने गये हैं--(१) चौंसठ तन्त्रवाले कौल या शाक्त शास्त्र, (२) आठ तन्त्रवाले मिश्र और (३) समय शास्त्र, जिसके पाँच तन्त्रों का उल्लेख मिलता है। यह विभाजन इस आधार पर किया गया है कि कौन किस उद्देश्य को लेकर साधना-रत होता है।

पञ्चरात्र-साहित्य बड़ा विशाल है, १०८ ग्रन्थ इसके अन्तर्गत कहे गये हैं । त्रिक सम्प्रदाय के अनेक तन्त्र हैं, जिनमें मुख्य है मालिनीविजय। उसके बाद स्वच्छन्द-तन्त्र आता है। शैव सिद्धान्त के मुख्य-मुख्य २८ तन्त्र हैं और उपागमों की भी एक बड़ी संख्या है, जैसे तारक, वाम तन्त्र आदि।

शाक्त-सम्प्रदाय के सम्बन्ध में सम्मोहन तन्त्र (अ०६) में ६४ तन्त्रों, ३२७ उपतन्त्रों और यामलों, डामरों, संहिताओं तथा अन्य साहित्य की चर्चा की गई है। इसी प्रकार शैव सम्प्रदाय के ३२ तन्त्रों, १२५ उप-तन्त्रों और यामलों, डामरों, संहिताओं का; वैष्णव सम्प्रदाय के ७५ तन्त्रों २०५ उपतन्त्रों, यामलों, डामरों और संहिताओं

का उल्लेख मिलता है। यहो नहीं, गाणपत्य और सौर सम्प्रदायों के असंख्य तन्त्र तथा अन्य ग्रन्थ मिलते हैं इनके सिवा अनेक पुराण, उप-पुराण और दूसरे नामवाले बौद्ध-सम्प्रदाय के साहित्य का उल्लेख हुआ है। फिर ५०० से ऊपर तन्त्रों, लगभग उतने ही उपतन्त्रों, प्राय: २२ आगमों, चोनागम, बौद्धागम, जैन पाशुपत, कापालिक, पञ्चरात्र, भैरव और अन्य ग्रन्थों की चर्चा की गई है। इन सबसे स्पष्ट है कि आगमों के अन्तर्गत तन्त्रों को कितनी विशाल संख्या है।

अनमोल विचार

'तन्त्र' वेद के ही समान रहस्यपूर्ण अपार ज्ञान का भण्डार है। दार्शनिक दृष्टि से दोनों का चरम लक्ष्य 'परम तत्त्व' एक ही रूप में अवगत होता है।

'तन्त्रशास्त्र' का देश-विदेश में व्यापक प्रचार रहा है और रहस्यात्मक विद्या की खोज में प्राचीन काल से ही न केवल भारत में, अपितु नेपाल, तिब्बत, मंगोलिया, चीन, इण्डोनेशिया तथा आधुनिक पश्चिमी विद्वानों द्वारा तन्त्रों का गम्भीर अध्ययन होता रहा है और आज भी हो रहा है।

संस्कृत वाङ्मय में 'तन्त्र'-साहित्य का अपना एक अत्यन्त विशिष्ट स्थान है। यह साहित्य अत्यन्त विशाल है। इतिहास इसका साक्षी है कि युग-युग से 'तन्त्र' की पद्धति किसी-न-किसी रूप में निरन्तर साधना के क्षेत्र में अपना स्थान रखती चली आई है।

वैदिक साहित्य 'तान्त्रिक' विचारों से अछूता नहीं है। वेदों के सिवा बौद्ध और जैन विचार-धारा में तान्त्रिक पद्धति का उदय हुआ। हिन्दू संस्कृति की परम्परा का आधार विशेष रूप से पुराण हैं और उनमें तान्त्रिक विचारों का वृहद् रूप में समावेश स्पष्ट दिखाई देता है।

'तन्त्रों' में मन्त्रों का अपना बड़ा उत्कृष्ट स्थान है। मन्त्रों की सिद्धि साधक को उस उच्च स्तर पर ले जाती है, जहाँ उसे धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष समस्त पुरुषार्थ-चतुष्टय को उपलब्ध कराने में वह समर्थ होती है।

'तन्त्र' योग से भी अधिक व्यापक है। योग-साधना के क्षेत्र में मानव-प्रकृति की साधारण प्रवृत्ति के अनुसार आन्तर साधना का समन्वय हुआ है और तन्त्र-साधना में बाह्य साधना का।

'श्रुति'—शब्द से वैदिक और तान्त्रिक दोनों श्रुतियों का ग्रहण होता है। दोनों ही प्रामाणिक तथा अपौरुषेय हैं।

—'तान्त्रिक साहित्य'

तन्त्र की भावना

बहुसंख्यक तन्त्रों में पाई जानेवाली समान भावनाओं का उल्लेख इस क्रम से किया जा सकता है--पराहन्ता के रूप में देवता की धारणा, ईश्वर का उभयात्मक स्वरूप—जिसके एक रूप में वह वास्तव में सृष्टि हो है या वैसा वह बन जाता है, उसमें से उसके सृष्टयात्मक रूप का आविर्भाव, क्रमिक आभास या व्यूह—जैसे अग्नि से अग्नि सूक्ष्म से स्थूल, शक्ति का सिद्धान्त; शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि, अचेतन माया का विरोध—जिसकी शङ्कर ने शिक्षा दी है, माया-कोश और कञ्चुकों का सिद्धान्त, पुरुष-प्रकृति तक और उससे परे वस्तुओं के मूल का संकेत करना, बाद में पुरुष-प्रकृति को स्वीकार करना, सांख्य गुण और शक्ति-सिद्धान्त में व्यवहृत तत्वों का प्रस्तार, सृष्टि की वास्तविकता की स्वीकृति, भक्ति की प्रमुखता, सब जातियों और स्त्री-पुरुष दोनों के लिए सुविधा प्रदान करना।

इसी प्रकार समान साधनों के रूप में मन्त्र, वीज, यन्त्र, मुद्रा, न्यास, भूतशुद्धि, कुण्डली-योग, मन्दिर और मूर्तियों (क्रिया) का निर्माण और प्रतिष्ठा-संस्कार, धार्मिक व सामाजिक चर्चा जैसे आह्निक-वर्णाश्रम-धर्म-उत्सव, मायायोग का उल्लेख किया जा सकता है। जहाँ भी मन्त्र, यन्त्र, न्यास, दीक्षा, गुरु और इस प्रकार की बातें हों, वहाँ तन्त्र-शास्त्र समझना चाहिए। सच बात तो यह है कि तन्त्रशास्त्र का दूसरा नाम मन्त्रशास्त्र भी है।

उक्त समानताओं के साथ विभिन्न सम्प्रदायों के बीच कई विभिन्नताएँ भी हैं। यही नहीं, समान बातों में भी पारिभाषिक तथा वर्णनात्मक भिन्नता पाई ही जाती है। इस प्रकार तन्त्रों की मोटी बातों पर विचार करते समय जब यन्त्रराज के साथ लक्ष्मी शक्ति, व्यूह, संकोच की चर्चा की जाती है और अन्य सम्प्रदायों के साथ त्रिपुर-सुन्दरी एवं महाकाली, तत्वों तथा कंचुकों का उल्लेख किया जाता है तब उससे कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ता। पूजन-क्रम में भी कुछ अन्तर मिलते हैं पर एक प्रसङ्ग को छोड़कर उनका कोई महत्व नहीं। वह प्रसंग है दक्षिणाचार और वामाचार के पूजकों के प्रसिद्ध अन्तर का। वामाचार की गुप्त साधनाओं को लेकर कुछ ऐसी प्रसिद्धि हुई कि तन्त्र को 'वामाचार' का ही शास्त्र माना जाने लगा, परन्तु इससे भ्रामक बात और नहीं हो सकती। आगम के—शाक्त, शैव, वैष्णव—आदि अनेक अनुयायियों में से एक की शाखा मात्र से ही वामाचार का सम्बन्ध है।

वास्तव में 'तन्त्र' बहुत व्यापक साहित्य है। यद्यपि तांत्रिक कहे जानेवाले कुछ सामान्य सिद्धान्त हैं किन्तु 'तन्त्र' के सम्बन्ध में इस प्रकार बात नहीं कही जा सकती कि मानो वह एक-सूत्रात्मक हो। सच तो यह है कि तन्त्र केवल पूजकों की साधना, उपासना का ही शास्त्र नहीं है; उसमें विज्ञान, विधि-विधान और चिकित्सा पर भी प्रकाश डाला गया है। 'तन्त्र' को प्रायः रहस्यमय कहा जाता है परन्तु ऐसी कोई बात नहीं है। जैसे दान के नाम पर लोग भले-बुरे सभी तरह के कर्म कर ले जाते हैं वैसे ही इस 'रहस्य' शब्द से अज्ञजन अपनी अज्ञता छिपा ले जाते हैं। तन्त्र की कुछ पंक्तियाँ कहीं पढ़ लेनेवाले यह भी कह बैठते हैं कि इसमें निरर्थक शब्दों के जपने का विधान है। ये लोग अपने इस कथन से अपनी अल्पज्ञता का ही ढोल पीटते हैं। थोड़ा भी अध्ययन करने से वे जान सकते हैं कि तन्त्र में उनके कथनानुसार 'निरर्थकता' कहीं नहीं है। तन्त्रोक्त कुछ अंश भले या बुरे हो सकते हैं पर निरर्थक नहीं। यह तो एक साधारण बात है कि

आदमी इतना मूर्ख नहीं है कि युगों तक वे एक बे-मतलब की बात में विश्वास करते रहें। जो लोग 'मन्त्र' को रहस्य-पूर्ण शब्द, 'मुद्रा' को रहस्यात्मक संकेत और 'यन्त्र' को रहस्य-भरे चित्र कहकर वर्णित करते हैं, वे अपने अज्ञान का ही परिचय देते हैं।

सारे आगम शास्त्र के प्रति लोगों की उक्त गलत धारणा का कारण यह है कि उन्हें इसके एक सम्प्रदाय से सम्बन्धित तन्त्र की कुछ ही बातों की जानकारी है और उनकी जानकारी भी निम्न श्रेणी के व्यक्तियों-द्वारा किये जानेवाले इसके सङ्कट-पूर्ण प्रयोगों पर, जिनका परिणाम प्रायः बुरा ही देखने में आता है, आधारित रहती है। वे यह नहीं जानते कि तन्त्रों में जहाँ ये प्रयोग लिखे हैं, वहाँ यह भी लिखा है कि इनके करने में यदि किसी तरह की भूल हुई, तो बड़ी आपत्ति की सम्भावना है और सारा जीवन ही नष्ट हो जा सकता है। तन्त्र के कुख्यात प्रयोगों में कितने ही असफल हुए हैं और कितनों ने उसके द्वारा कुकर्म किए हैं, यह भले प्रकार ज्ञात है। यह स्थान इस सबकी चर्चा के लिए नहीं है। यहाँ तो आगम के विभिन्न सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखनेवाले तन्त्रों की उन साधनाओं और भावनाओं पर विचार किया जा रहा है।

बहुधा लोग यह मत व्यक्त किया करते हैं कि कम-से-कम मूलतः तन्त्र-शास्त्र वेद-विरोधी एवं वैदिक भावनाओं से परे है। ऐसा माननेवाले लोग कहा करते हैं कि तान्त्रिक तथा वैदिक दोनों ही सिद्धान्त एक दूसरे के सर्वथा विपरीत हैं और जो तन्त्र वेद का स्वरूप ग्रहण किए कहीं-कहीं दिखाई देता है, वह केवल अपने विरोधी तत्वों को गुप्त रखने के लिए। इस सम्बन्ध की चर्चा दूसरे लेख का विषय है—तथापि यहाँ इतना तो स्पष्ट किया ही जा सकता है कि सदियों से आगम-वादियों का दावा रहा है और आज भी है कि उनके सिद्धान्त वेद पर आधारित हैं। तन्त्रों में जो सिद्धान्त प्रति-पादित किए गए हैं, उन सबकी इति वेदान्त में ही होती है यद्यपि वेदान्त का अर्थ तन्त्र अपने निराले दृष्टिकोण से ग्रहण करता है।

वेदान्त का वास्तविक अर्थ है उपनिषद्। इसके सिवा और कुछ नहीं किन्तु अधिकांश लोग वेदान्त की जिस प्रकार चर्चा करते हैं, उससे यही ध्वनित होता है कि मानो शङ्कर के दार्शनिक विचार ही वेदान्त हों या जिस किसी दार्शनिक के वे अनुयायी होते हैं, उसी के विचारों में वेदान्त को वे सीमित मानते हैं। यह ढङ्ग निस्सन्देह बिलकुल गलत और भ्रामक है। वेदान्त श्रुति है। शङ्कर का दर्शन उसका एक तात्पर्य मात्र है जैसे रामानुज का। इसी प्रकार कौलागम या शैवागम भी उसका तीसरा तात्पर्य प्रस्तुत करता है। श्रुति-रूप वेदान्त और तन्त्रशास्त्र की भावनाओं में किसी प्रकार की प्रति-स्पर्धा की कल्पना ही नहीं की जा सकती। यह अवश्य है कि आगम का प्रत्येक सम्प्रदाय श्रुति का अपने ढङ्ग से अलग तात्पर्य निकलता है और उस तात्पर्य को वह अन्य सम्प्रदायों द्वारा ग्रहीत भिन्न-भिन्न तात्पर्यों की अपेक्षा अधिक शुद्ध और श्रेष्ठ मानता है।

हमारा उद्देश्य यहाँ यह बताना नहीं है कि किस सम्प्रदाय का तात्पर्य ठीक है और किसका नहीं। हमें तो केवल वस्तुस्थिति ही पाठकों के सामने रखनी है। जिसे जिसका तात्पर्य ठीक जँचेगा, वह उस सम्प्रदाय की विचार-धारा अपना लेगा। पञ्चरात्र आगम की अहिर्बुध्न्य संहिता में ठीक ही लिखा है कि परमात्मा असीम है और कोई भी दार्शनिक उसके एक स्वरूप से अधिक का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता और न वह उससे अधिक के रहस्य पर प्रकाश डाल सकता है। सभी सम्प्रदायों-द्वारा प्रस्तुत तात्पर्यों में कुछ-न-कुछ विशेषताएँ हैं और त्रुटियाँ भी हैं। यह बात शङ्कर-दर्शन पर भी लागू होती है। शङ्कर ने अपने मायावाद से ब्रह्म के अपरिवर्तन-शील एवं अविकारी लक्षण को किसी भी अन्य दार्शनिक की अपेक्षा कहीं अधिक बुद्धि-ग्राह्य रूप देने में सफलता पाई है परन्तु ऐसा करने में कुछ त्रुटियाँ भी हो गई हैं, जो दूसरे सम्प्रदायों में नहीं पाई जातीं। अधिकार का आधार श्रुति और अनुभव है। आगम उसका अपने ढङ्ग से अर्थ

करता है। यही समझने की बात है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि शैव और शाक्त-सिद्धान्त वेदान्ती विचार-धारा के विशिष्ट प्रतिपादक हैं। वे सिद्धान्त शङ्कर दर्शन से कुछ बातों में जहाँ असहमति रखते हैं, वहाँ जीवात्मा और परमात्मा के ऐक्य-सम्बन्धी मूल प्रश्न पर साम्य भी दर्शाते हैं। इसी से वे अद्वैत हैं।

अब विचार यह उठता है कि जिस अनुभव का उल्लेख आगम करता है, उसकी प्राप्ति कैसे की जा सकती है। इसके लिए शास्त्र में साधनाओं या अनुशासनों का विधान मिलता है। सबसे पहली बात जो आवश्यक बताई गई है, वह यह है कि शरीर स्वस्थ और जीवन नैतिक होना चाहिये। किसी वस्तु को पूर्णतया जानने का मतलब है उसमें लीन हो जाना या उसी के स्वरूप में बदल जाना। इसीलिये अद्वैत के अनुसार ब्रह्म को जानना 'ब्रह्म' हो जाना है। ब्रह्म, जो शुद्ध है, कभी किसी व्यक्ति के अनुभव में आ नहीं सकता, जब तक कि वह व्यक्ति स्वयं तदनुरूप शुद्ध-चित्त हो न जाय। इस दशा को प्राप्त कर लेना कोई हँसी-खेल नहीं है किन्तु इस सम्बन्ध में प्रगति करने के लिये कुछ निर्दिष्ट साधन अभ्यास कर्म या अनुशासन अनिवार्य रूप से पालनीय होते हैं। ब्रह्म के सम्बन्ध में केवल दार्शनिक वार्त्तालाप करने से ही उसका साक्षात्कार नहीं हो जाता।

धर्म एक व्यावहारिक क्रियाशीलता है। जिस प्रकार शरीर को व्यायाम, कसरत, आसन, अभ्यास आदि की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार मन को भी कुछ साधन अपने विकास के लिए आवश्यक होते हैं। ये साधन मात्र बौद्धिक या आत्मिक प्रकार के हो सकते हैं। जैसा भी साधन काम में लाया जाय, वही साधना कहलाता है! 'साधना' शब्द 'साध्' धातु से बना है, जिसका अर्थ है किसी कार्य की पूर्ति के लिए क्रियाशील होना। अतएव साधना वह वस्तु है, जिससे व्यक्ति सिद्धि की ओर अग्रसर होता है। दूसरे शब्दों में साधना शक्ति है, जिसे मन व शरीर-रूपी आवरण चारों ओर से घेरे हुए है किन्तु यह शक्ति मूलतः आत्मा के समान ही शुद्ध चित् है क्योंकि आत्मा और शक्ति अभिन्न हैं। इस प्रकार मनुष्य गुप्त और प्रकट दोनों प्रकार की शक्तियों का एक विशाल भण्डार है। साधना का उद्देश्य मनुष्य की इसी शक्ति का विकास करना है, विकास चाहे भौतिक जीवन के लिए किया जाए या पारलौकिक जीवन के लिए। परन्तु इस प्रकार की 'साधना' का ज्ञान प्राप्त कहाँ से हो?

आज यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है कि वैदिक आचार व्यावहारिक दृष्टि से जन-समाज के लिए बिलकुल प्रतिकूल और असाध्य सिद्ध हो गया है। ऐसी दशा में उक्त साधन आगम और पुराणों में से ही ज्ञात किया जा सकता है। पुराण भी तान्त्रिक कर्म के माहात्म्य से परिपूर्ण हैं। अतएव यह स्पष्ट हो गया कि आगम के इन तन्त्रों में आध्यात्मिक सिद्धान्त पर न केवल व्यावहारिक प्रकाश डाला गया है किन्तु इनमें उन साधनों का ब्योरा भी दिया गया है, जिनकी सहायता से इनके द्वारा उपदिष्ट 'सत्य' की उपलब्धि भी की जा सकती है। इन तन्त्रों को यथार्थता इस बात पर निर्भर नहीं करती कि ये कितने प्राचीन या आधुनिक हैं किन्तु इस अनुभव पर कि इनके द्वारा निर्दिष्ट साधनाओं से किस सीमा तक सिद्धि की प्राप्ति होती है। यही सिद्धान्त आयुर्वेद की भी यथार्थता का प्रतिपादक है। औषधि की परीक्षा इसी में है कि उससे रोग अच्छा होता है या नहीं। यदि सिद्धि नहीं मिलती तो इस बात में कोई तथ्य नहीं रह जाता कि यह शिव उवाच है अथवा देवी उक्ति है। यह सब लिखने का तात्पर्य संक्षेप में यही है कि आगम वास्तव में विभिन्न सम्प्रदायों के भिन्न-भिन्न सिद्धान्तों पर व्यावहारिक रूप से प्रकाश तो डालता ही है, उनके प्रयोगात्मक स्वरूप को भी प्रत्यक्ष प्रस्तुत करता है।

आगम की विशेषता प्रकट करते हुए प्रोफेसर प्रमथनाथ मुखोपाध्याय की यह उक्ति बड़े मार्के की है कि 'यह व्यावहारिक दर्शन है और इसी दर्शन

की आधुनिक विचारकों को आवश्यकता है। आज का बौद्धिक युग जिस दर्शन की चाह में है, वह न केवल तर्क-वितर्क उपस्थित करनेवाला हो किन्तु उसमें प्रयोगात्मक दृष्टिकोण भी अन्तर्निहित होना चाहिए। यह बात आगम में कूट-कूट कर भरी हुई है। आगम की भावना में विचार एवं प्रयोग दोनों का हो सम्मिश्रण दिखाई देता है।'

साधना का स्वरूप कुछ भी हो, मुख्य ध्येय तो लक्ष्य की प्राप्ति है और इसी से सभी सम्प्रदायों एवं मार्गों में कुछ-न-कुछ कर्म करने का उपदेश किया जाता है। तथापि यह प्रश्न तो बना ही रहता है कि उस उपदेश की सार्थकता का प्रमाण क्या है! इस सम्बन्ध में ऊपर स्पष्ट किया जा ही चुका है कि इसका प्रमाण केवल प्रयोग द्वारा अनुभव पर निर्भर करता है। तन्त्रशास्त्र की यही विशेषता है कि वह प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह स्त्री हो या पुरुष—ब्राह्मण हो या चाण्डाल, बिना किसी भेद-भाव के ऐसे साधन-क्रम का उपदेश करता है, जिसे अपना कर वह प्रतिपादित सत्यों को सहज ही प्राप्त कर सकता है।

भारत और तिब्बत—दोनों ही स्थानों के तन्त्र में सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रतिपादन मिलता है। धार्मिक सत्यों के केवल उल्लेख से काम कुछ नहीं चलता। सभी के लिये यह आवश्यक है कि अनुभव प्राप्त करने के लिये किसी प्रयोगात्मक मार्ग को अपनाया जाय। बुद्धिवादी को भी इस बात का मानना आवश्यक है। साधारण जन तो दार्शनिक विश्वासों को न तो समझ ही सकते हैं और न उन्हें उनसे सन्तोष ही मिलता है। वे उन विश्वासों को तभी मानते हैं जब उनका आरोप किसी व्यक्तित्व में करके उन्हें व्यावहारिक रूप में उपस्थित किया जाये। यही कारण है कि शून्यता और सच्चिदानन्द ब्रह्म के सिद्धान्त जन-साधारण को भाते नहीं। उन्हें तो शिव, विष्णु, देवी आदि के प्रति प्रार्थना करने में ही सन्तोष होता है क्योंकि ये उनकी पुकार सुनकर उनके साहाय्य होते हैं। इस सम्बन्ध में वे अकेले पूजा-स्तुति करने में समर्थ नहीं होते और उन्हें पुरोहित और गुरु आदि से परामर्श लेने की आवश्यकता पड़ती है। संस्कारों द्वारा मन को जो दृढ़ता प्राप्त होती है, वह भी उक्त कारण हो वे ग्रहण करने को उत्सुक रहते हैं। वे अपने पूज्य के निश्चित ध्यान—मूर्ति, यन्त्र, मण्डल आदि की आवश्यकता को अनुभव करते हैं और चाहते हैं एक विकसित क्रमबद्ध पूजा-विधान, जिसकी सहायता से वे अपने आध्यात्मिक मार्ग पर अग्रसर हो सकें।

इस वर्णन से किसी को यह समझने की भूल न करनी चाहिये कि सर्व-साधारण व्यक्तियों द्वारा गृहीत उक्त बातें गलत हैं और केवल अज्ञजनों के ही मनस्तोष में समर्थ हैं। यह सच है कि उपर्युक्त स्वाभाविक भावना-विकास समय-चक्र के साथ उस स्थिति पर भी पहुँच सकता है, जहाँ अन्ध-विश्वास, यन्त्र-वत् भक्ति, बेजान भावना आदि बुराइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं और ऐसे ही अवसर पर 'सुधार' की आवश्यकता पड़ती है, जो अधिक शुद्ध आध्यात्मिकता को जन्म देने का दावा करता है। किन्तु यह न भूलना चाहिये कि सुधार में भी अति होकर शुष्कता और निष्फलता का आविर्भाव सम्भव है। यही कारण था कि जो बौद्ध धर्म पूजा-पाठ, यज्ञ, बलिदान के अतिरेक के खण्डनार्थ अस्तित्व में आया था, वह केवल उच्च सिद्धान्तों के प्रवचन और अपने अष्ट-सत्यात्मक मार्ग के प्रवचन पर ही अधिक समय तक टिका न रह सका। उसे भी किसी प्रयोगात्मक व्यावहारिक मार्ग की आवश्यकता अनुभव करनी ही पड़ी। फलतः महायान (थेगपा चेनपो) का जन्म हुआ।

कहा जाता है कि दूसरी शताब्दी (?) में नागार्जुन ने ऐसे विचारों का प्रचार किया, जो तन्त्रों में पाये जाते हैं। अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए मनुष्य की शारीरिक और मानसिक सभी शक्तियों का उपयोग किया गया। योग-चर्या तथा अन्य बौद्ध क्रियाओं में योग का भी पुनः आविर्भाव हुआ। मूर्ति-पूजा एवं विस्तृत अर्चन-विधान भी

ग्रहण किया गया। शक्तियों को पूजा का अलग बड़ा प्रचार हुआ। मन्त्रयान और वज्रयान के द्वारा अगणित तथा विचित्र मन्त्रों का भी व्यवहार होने लगा। इस प्रकार तथा-कथित तान्त्रिक बौद्ध धर्म ने पूर्ण विकास को प्राप्त किया। सोंघपा नामक एक तान्त्रिक सुधारक ने अपने ग्रन्थ 'लाम-रिम छेन मो' में तन्त्रों का क्रम-बद्ध विवरण दिया। 'काह्-ग्युर' नामक महाग्रन्थ के एक खण्ड में वे तन्त्र संगृहीत हैं, जिनमें पूजा-क्रम, दिव्य माताओं का अर्चन, ज्योतिष और प्राकृतिक विज्ञान पर उसी प्रकार प्रकाश डाला गया है, जैसा कि हम उसी प्रकार के हिन्दू तन्त्रों में देखते हैं। ये बौद्ध तन्त्र चार प्रकार के हैं—क्रिया, चर्या, योग और अनुत्तर तन्त्र। अनुत्तर तन्त्र के भी तीन उप-विभाग हैं–महा, अनु और अतियोग तन्त्र। इसी प्रकार 'तानग्युर' भी तन्त्रों (ग्युंद) के अनेक ग्रन्थों से मिल कर बना है। इस प्रकार बौद्ध-धर्म द्वारा तान्त्रिक स्वरूप ग्रहण किए जाने तक उसका भारत-भूमि से विलोप भी हो गया। ब्राह्मण-धर्म और उसका पूजा-विधान पुनः अपने पूर्व-पद पर प्रतिष्ठित हो गया।

आज और आज से कुछ समय पहले तक हम उपर्युक्त धर्म-सम्बन्धी क्रान्ति को व्याप्त पाते हैं। इस क्रान्ति से अनेक नए सम्प्रदायों का भी आविर्भाव हुआ है, जो अधिक शुद्ध आध्यात्मिक मार्ग की ओर निर्देश करते दिखाई देते हैं। युग-युगान्तरों से क्रिया और प्रतिक्रिया का यह परिणमन लक्षित किया जा सकता है। इस सबमें ठीक वही है, जो 'अति' और 'अल्प' के बीच में पड़ता है। धर्म को सफल होने के लिए अपने में कुछ प्रयोगात्मक पूजा विधान को रखना ही होगा। उस विधान का स्वरूप व्यक्ति के विकास और सामर्थ्य के अनुरूप विभिन्न प्रकार का यदि हो, तो यह सर्वथा स्वाभाविक होगा।

तन्त्र-शास्त्र में परिव्याप्त श्रेष्ठ भावना में यह बात स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है कि उसमें मानव के रुचि-वैचित्र्य का समुचित ध्यान रखा गया है। इसी से विभिन्न प्रकार की साधनाओं का विधान तन्त्रों में मिलता है, जो सब प्रकार से एक दूसरे से भिन्न होती है। किसी के लिए तो तन्त्र-शास्त्र पूजा-क्रम का बन्धन निर्दिष्ट करता है और किसी को उससे मुक्त कर देता है। वस्तु और भावना में जो विभेद विभिन्न सिद्धान्तों के प्रतिपादन में तान्त्रिक विचार-धारा प्रकट करती है, उसका कारण मात्र यही है कि उसे सभी व्यक्तियों के विकास का ध्यान है। यह सर्वथा वैज्ञानिक विशेषता है। तन्त्र की इस भावना को हृदयङ्गम करनेवाले ही उसके वास्तविक महत्व का अनुभव कर सकते हैं।

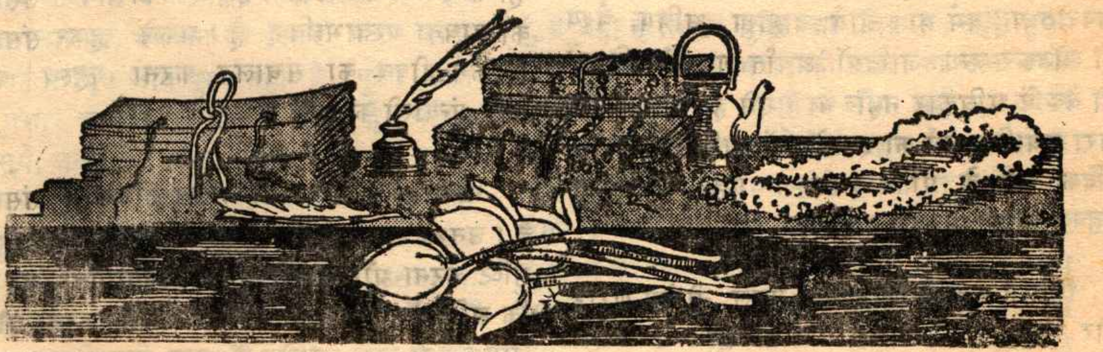

तन्त्र-मत में साधना की उपयोगिता

यह बात सभी जानते हैं कि तन्त्र के आदि गुरु शिव हैं। उन्हीं के द्वारा तन्त्र की उत्पत्ति हुई और इस भारतवर्ष में दक्ष-यज्ञ के सूत्र से आर्य-मण्डल में उन्हें प्रधान देवता के रूप में स्वीकृत किया गया और उनके प्रभाव की कथा हमारे बच्चों तक ने सुन रखी है। उनके द्वारा प्रवर्तित धर्म में साधना का जो वर्णन है, उसी की विवेचना यहाँ अभीष्ट है।

एक मत के अनुसार तन्त्र-धर्म कहने से समझना चाहिये शिव द्वारा प्रचारित शक्ति-उपासना। योग-युक्त साधना के साथ उसका घनिष्ट सम्बन्ध है। यह एक अति उदार धर्म है, जिसमें आर्य-अनार्य समस्त जीव तथा साधारण मनुष्य मात्र को प्रवेश पाने का अधिकार है। यही तन्त्र-धर्म वास्तविक सार्वजनिक धर्म है, जो सभी देशों में सभी अवस्थाओं में मनुष्य-समाज के लिये उपयोगी है। इसी से एक समय यह धर्म सारे भारत में प्रचलित था। वैदिक या ब्राह्मण-धर्म में बाहरी लोगों के लिये प्रवेश जिस प्रकार चारों ओर से बन्द था, सभी दिशाओं में विधि-निषेध की कट्टरता व्याप्त थी, उसके ठीक विपरीत यह धर्म था। आर्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य को छोड़कर अन्य जातियों अर्थात् शूद्र और स्त्रियों को वेद में अधिकार नहीं था। ऐसे ही काल में शिव द्वारा प्रचारित धर्म का इस देश में आविर्भाव हुआ। वैदिक धर्म के प्रतिवाद-स्वरूप एवं सार्वजनीन कहकर इसका प्रचार हुआ।

शिव ने कहा है कि स्वस्थ, सबल, नीरोग शरीर और यौवन-जन्य उद्यम के साथ ही धर्म की साधना आरम्भ होती है। यह बात विशेष रूप से मन में समझ लेनी चाहिये कि यौवन ही धर्म का—विशेष कर आध्यात्मिक धर्म का साधनोपयोगी काल है। अतएव तन्त्र-धर्मोक्त साधना का प्रशस्त काल युवावस्था ही है। शिव के विचार से मानव की दो ही जातियाँ हैं—स्त्री और पुरुष। इन्हें छोड़कर मानव समाज के बाहर पशु-जाति, पक्षी-जाति, पतङ्ग-जाति, कीट-जाति, उद्भिद्-जाति आदि जातियाँ सृष्टि में हैं। मानव-समाज में कर्म की दृष्टि से जो जातियों का वर्णन है, वह 'वात्त' नाम से विचारणीय है। उच्च-नीच जो श्रेणी-विभाग है, वह सब मनुष्य के अधिकार का दम्भ मात्र है। शिव की दृष्टि में चमार और क्षत्रिय एक समान हैं। उनके निकट इन दोनों को एक ही आसन पर बैठना होगा।

इसी प्रकार शिव के विचार से जीव मात्र मोक्ष का अधिकारी है। स्त्री और पुरुष–ये पृथक् जाति होने पर भी इनका अधिकार समान है। अकेली स्त्री या अकेला पुरुष अर्ध या असम्पूर्ण सत्ता मात्र है। एक नारी और एक पुरुष–दोनों के प्रेम से आकृष्ट होने पर प्रणय उत्पन्न होता है और तब ये दोनों सृष्टि-शक्ति में सक्षम एक पूर्ण सत्ता बनते हैं। इन दोनों का मिलन ही जीवन है और यह जीवन ही साधना का अधिकारी है। एकाकी होने से संसार की साधना अस्वाभाविक है। अकेले रहकर संसार में कर्म-जीवन का संचालन करना गृहस्थ का नहीं, संन्यासी का धर्म है।

नारी और नर का सम्मिलित जीवन ही संसार है। उनकी पहली प्रवृत्ति है सृष्टि अर्थात् प्रजा की सृष्टि करना और उनकी प्रमुख उपयोगिता यह है कि शक्ति के विकास के फलस्वरूप कर्म करना और भोग करना तथा उपभोग के बाद आत्म-ज्ञान का प्रसार करना एवं मोक्ष-मार्ग में आगे बढ़ना। यह ध्यान रहे कि सब कुछ प्रकृति पर ही अवलम्बित है।

सरल एवं सहज—प्राकृतिक नियमानुसार ही होता है। कर्म की प्रवृत्ति जीव के जीवन में जटिलता की सृष्टि करती है। कारण यह है कि कर्म के फल-स्वरूप क्रमशः प्राकृतिक नियम से ही प्रगति होकर विभिन्न जटिल मार्गों के अन्त में ऊर्ध्व या अधोगामी होना पड़ता है। तदनुसार जो मनुष्य धर्म में संयत होकर भोग के साथ साधना करता चलता है, उसे उसके फलस्वरूप निवृत्ति प्राप्त होती है और वास्तविक ज्ञान का उदय होता है तथा यथार्थ साधना के फल-स्वरूप वह मुक्ति का अधिकारी बनता है। मुक्ति से आशय है बार-बार दुःखमय जन्म, जीवन, जरा, मृत्यु, नाना दुःखद कर्मों से निवृत्ति। निवृत्ति से ही साधना के फल-स्वरूप अपने निजी क्षुद्र स्वार्थ-मय अनुभव का नाश होता है। जीव का स्वरूप है सच्चिदानन्दमय शिव। साधना के फलस्वरूप इसी बोध की प्रतिष्ठा होती है।

जिस प्रकार सांख्य दर्शन में इस सृष्टि में प्रकृति ही श्रेष्ठ है व पुरुष है निष्क्रिय, उसी प्रकार शिवोक्त तन्त्र में भी कहा है कि सृष्टि-स्थिति-लय की अधिष्ठात्री एवं चतुर्वर्ग-फल की दात्री आद्या-शक्ति स्वयं भगवती हैं। और किसी में शक्ति नहीं है, जो जीव को मुक्ति दे सके। जो वैदिक पुरुष देवता की उपासना है, वह भी प्रकृति या शक्ति की ही उपासना है क्योंकि जीव अर्थात मनुष्य का ज्ञान यही है कि पुरुष और नारी—ये दोनों प्रकृति या शक्ति ही हैं। जिसे ब्रह्म, आत्मा, भगवान् या ईश्वर कहा जाता है, वह यह पार्थिव जीव पुरुष नहीं है। पुरुष संज्ञा से एक प्रकार का भ्रम ही उत्पन्न होता है। वैदिक देवता सूर्य, चन्द्र, इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर आदि को पुरुष कहा गया है। किन्तु वास्तव में ये सब मूल प्रकृति के अन्तर्गत विभिन्न क्षेत्रों में एक-एक केन्द्रस्थ शक्ति मात्र हैं। इस विषय में कितना भी तर्क-वितर्क किया जाय, किन्तु वस्तुतः प्रकृति की इस विशाल सृष्टि के अन्तर्गत मानव जीव के पक्ष में ब्रह्म और पुरुष जिस प्रकार धारणा के परे हैं, उसी प्रकार आद्या शक्ति या प्रकृति-सृष्टि की अधिष्ठात्री महामाया या महाशक्ति भी जीव की धारणा के सर्वथा अतीत हैं।

शिव ने अनुभव किया कि वैदिक देवता की उपासना वास्तव में प्रकृति या शक्ति की ही उपासना है। अतः इन्होंने उस पथ से न जाकर सीधे मूला प्रकृति को ही, जिन्हें देवगण जगदम्बा या विश्व-जननी कहकर स्तव करते हैं, जीव का एक-मात्र इष्ट (आराध्या) बनाकर उन्हीं की उपासना करने के लिये जीवों को उद्बुद्ध किया। हम लोगों में नारी और नर के प्रति जो भावना बद्धमूल है, उसके कारण हम लोग प्रकृति को, जो इस सृष्टि का मूल है और जो इस विशाल विश्व जगत् का सृजन, रक्षण और परिवर्तन करती है और एकमात्र पुरुष को, जो इस प्रकृति के अतीत अव्यय चेतना या परमात्मा है, इन दोनों के ही वास्तविक स्वरूप को समझने में भ्रमित होते रहे हैं। प्रकृति को समझकर सहज भाव से प्रकृति के नियमानुसार चलने से व्यक्ति का क्रमशः विकास हो सकता है और अन्त में उसी मूला प्रकृति के साथ घनिष्ट परिचय होने से मुक्ति या पुरुष-अवस्था की प्राप्ति हो सकती है।

तन्त्रशास्त्र में क्रमशः विकास का अपूर्व समर्थन मिलता है। उसमें विवर्तनवाद केवल वाद-विवाद का विषय नहीं है, अपितु जीवन्त सत्य है। हम लोगों के बीच अर्थात भारत के विशाल मानव-समाज में हम जिन्हें सबसे निम्न स्तर का मानते हैं, वे वही हैं जिनमें बुद्धि का विकास नहीं हुआ है। जो केवल अपने शरीर की रक्षा का यत्न करते हैं अर्थात श्रम-जीवी श्रेणी के लोग, वही हम लोगों के बीच सर्व-निम्न स्तर के हैं? शहर के श्रम-जीवी अपेक्षाकृत कम बुद्धिमान् होते हैं। सुदूर गाँवों के श्रेणी के लोगों से यदि पूछ-ताछ करें, तो देखेंगे कि वे अपने को किसी प्रकार सर्व-निम्न स्तर का नहीं मानते। वे मेहतर, भङ्गी, चमार आदि को ही सबसे नीच बताएँगे। प्राचीन काल के समाज के निम्न श्रेणी के लोगों की चर्चा यहाँ ठीक नहीं है क्योंकि देश-काल के वह अनुरूप न होगी। हम लोगों की सर्व-निम्न स्तर की धारणा तो उक्त

प्रकार की है किन्तु शिव का कथन है कि जिसमें देहात्म-बुद्धि है, वे ही सर्व-निम्न श्रेणी के जीव हैं— इसी का दूसरा नाम है पशु-भाव।

परापर प्रकृति इस चराचर विश्व की केवल कारण या नियन्ता ही नहीं है, अपितु वह उसकी स्रष्टा और पालिका भी है। मनुष्य का मन और बुद्धि कितनी ही दूर जा पाये, वास्तव को छोड़कर कल्पना की उड़ान भरे, किन्तु प्रकृति के राज्य के बाहर उसकी गति नहीं होती। परम गुरु शिव ने इस तथ्य को हृदयङ्गम किया था कि आर्यों का देवतावाद घूम-फिर कर अन्त में इसी प्राकृत पथ पर आएगा। इसी से उन्होंने एक ही बार में सीधे प्रकृति का अवलम्बन करने का कौशल योगशास्त्र में समाहित किया, जिसका लक्ष्य प्रकृति के राज्य को छोड़कर चेतन्य के राज्य में जाना था। कारण आद्या-शक्ति या प्रकृति के ही हाथ में जीव की मुक्ति की चाभी है। तन्त्र-मत को श्रेष्ठ एवं स्पष्ट अभिव्यक्ति विवेकानन्द की एक पंक्ति में व्यक्त हुई थी, जिसे सुनकर वैष्णव लोग अशान्त हो उठे थे किन्तु तत्वतः उक्त एक ही पंक्ति में महाभारत का सारांश प्रकाशित होता है। विवेकानन्द की 'न चूक ताहाते श्यामा' शीर्षक कविता विख्यात है। उसी में उक्त पंक्ति है। यथा—

"सत्य तूमि, मृत्यु-रूपा काली;
सुख वनमाली, तोमार मायार छाया।"

इस पंक्ति में उद्घाटित सत्य वास्तव में परम सत्य है, इसमें सन्देह नहीं यही उपलब्ध अनुभूत सत्य है। वैष्णव धर्म में भगवान् की कल्पना जितनी ही प्रसारित होती है, मानव मन और बुद्धि उतना ही निरापद आश्रय का लाभ कर जन्म और जीवन को सार्थक तथा धन्य करती है, किन्तु इस विशाल आद्या शक्ति की अव्यक्त मूल भावना की धारणा के पक्ष में उस प्रकार का कोई क्षुद्र एवं काल्पनिक उपकार है नहीं और इस धारणा के ग्रहण न करने से जगत्-रहस्य, आत्म-चैतन्य का उद्बोधन हो ही नहीं सकता। इसी आविष्कार के कारण शिव जगद्-गुरु हुये। सांख्य का प्रकृति-तत्त्व शिव का ही है। कपिल शैव या शिव-भक्त एवं शिव के ही उपासक थे।

तन्त्र में शिव ने इसी से प्रकृति के अनुगामी होकर साधन-पथ पर चलने का उपदेश किया है, जो सार्वजनीन सहज पन्थ है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर—ये तीनों सृष्टि, स्थिति और लय के देवता उसी प्रकृति के अंश को धारण करते हैं क्योंकि मानव मन में पुरुष-प्रकृति की जो धारणा है, उसमें आदि में प्रकृति को ही माना गया है। सांख्य और वेदान्त दर्शन शास्त्र में विभाग कर यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार सृष्टि में प्रकृति के मध्य पञ्चीकरण का यह व्यापार सम्भव हुआ है, जिसके फलस्वरूप यह विचित्र जीव-जगत् प्रकाशित एवं सार्थक हो सका है।

तन्त्र की साधना सारे मानव समाज अर्थात् सारे जगत् के अधिवासी मनुष्य-समाज के लिए है। अति स्थूल-बुद्धि मानव को ध्यान में रखकर उसका आरम्भ हुआ है। विश्व-कल्याण के लिए शिव ने सर्व-निम्न स्तर के मानव से लेकर सर्व-उच्च स्तर के मानव तक को अपने द्वारा प्रवर्तित पथ की ओर आकर्षित किया है। तन्त्र के मत से मानव पहले पशु-धर्मी होता है। फिर वह वीर बनता है और तब वह देवता होता है। शिव कहते हैं कि 'तुम्हें किसी देवता की अलग उपासना नहीं करनी है। तुम्हारी क्रमोन्नति ही तुममें देवत्व को प्रतिष्ठा करेगी। प्रकृति के अनुगामी होकर चलो।' मानव जन्म की सार्थकता है परमात्मा और शिवत्व में प्रतिष्ठित होना। यहाँ यह ध्यान रहे कि वैदिक धर्म में भी कहा है कि 'जन्मना जायते शूद्रः संस्कारे द्विज' और अन्त में 'ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः।' किन्तु वेदान्त में प्रतिपादन है कि 'जीव ब्रह्मैव नापरः।' यही तन्त्र में कहा है कि 'जीवो शिवः।' यह सब तत्त्वतः सत्य है।

इस प्रकार देखा जाय तो अन्त तक तत्त्वतः वेद

और तन्त्र एक ही हैं। वैदिक धर्म पर शिव के प्रभाव के सम्बन्ध में मतभेद है, किन्तु जितने महान वेदान्ती हुए हैं, वे सभी शैव रहे हैं। इनमें शङ्कराचार्य का नाम पहले हो याद आता है क्योंकि ये इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति हैं और युगावतार के रूप में इन्हें प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। ये प्रथम कोटि के शैव थे, यह सभी स्वीकार करते हैं।

कुछ भो हो, तन्त्र में शिव ने कहा है कि प्रकृति के नियमानुसार चलने से मुक्ति प्राप्त होती है, जो कि जीव को एकमात्र कामना है।

अब यह विचारणीय है कि प्रकृति के नियमानुसार चलनेवाला पन्थ कौन सा है ? किस प्रकार का है क्योंकि हम लोग तो जीव हैं।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि तन्त्रशास्त्र में जोव प्रथम अवस्था में पशु होता है। अतः इस पशु-धर्म के नियमानुसार हो साधना का आरम्भ होना चाहिए। मनुष्य में पशु-भाव की बात सुन कर जिसके मन में सन्देह उत्पन्न हो, उसे चाहिए कि वह स्वयं अपनी व्यक्त और गोपनोय प्रवृत्तियों तथा कर्मों एवं अतीत और वर्तमान मनोभावों के सम्बन्ध में सजग होकर विचार करे।

पञ्च-मकार-सहित साधना हो प्रकृति के नियमानुसार साधना कही गई है। पशवाचार में जो प्राथमिक नियम हैं, उनमें एक यह है कि नारी के बिना साधना होतो नहीं। कारण यह है कि जो प्रथम स्तर के मानव हैं, वे शक्ति का आश्रय लिए बिना आगे नहो बढ़ सकते। तन्त्र में 'शक्ति' से तात्पर्य है नारी का, क्योंकि जो पुरुष जीव है, उसका आश्रय-स्वरूप नारो या शक्ति ही है। बिना उसके वह सृष्टि का अधिकारी नहीं हो सकता। कर्म-जगत् म भी वह उसके बिना कोई भी कर्म सुचारु रूप से नहीं कर सकता। एक नर और एक नारी—दोनों के मन-प्राण से एक होने पर अर्थात् प्रेम से आबद्ध होने पर दोनों व्यक्तियों के मन और प्राण में एक सम्पूर्ण सत्ता का उदय होता है, जिससे उसका अस्तित्व सृष्टि-शक्ति से उद्‌बुद्ध हो उठता है। उसके सारे-कर्म प्रेम-मय हो जाते हैं और उभयतः जोवन सम्पूर्ण तथा सार्थक हो जाता है।

मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन—ये ही पाँच हैं पशवाचार के उपकरण। यह तो सभी को ज्ञात ही है कि चाहे शिक्षित हों या अर्ध-शिक्षित या अशिक्षित, सभी को आसक्ति प्रबल रूप से उक्त पाँचों तत्वों के प्रति पाई जाती है। अतः पशवाचार की साधना में इनकी उपयोगिता स्वयं सिद्ध है। साधना के पथ में प्रवृत्त होने पर इनके प्रति उच्छ्रृङ्खल भोग-वृत्ति न रहकर इनके साथ-साथ साधना-कर्म करके सारा जीवन ही नियन्त्रित हो उठता है। इस प्रकार प्रथम स्तर के जोव के लिये प्रकृति के नियमानुसार यही साधना है।

जो लोग पञ्च-मकार के प्रति अत्यधिक आसक्त हैं अर्थात् स्थूल भोग की प्रवृत्ति जिनमें प्रबल रूप से विद्यमान हैं, उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि तन्त्र का यह कहना है कि जो असीमित रूप से मद्य, मांस और स्त्री-सेवी होते हैं, वे तान्त्रिक साधना में सफल नहीं हो सकते क्योंकि इस साधना में पञ्च-मकारों की व्यवस्था इस प्रकार विधि-पूर्वक नियन्त्रित है कि उसमें उच्छृङ्खलता के लिये कोई स्थान नहीं है। पञ्च-मकारों की समता बनाये रखना अत्यावश्यक है। मात्रा के बाहर जाना ही नहीं है। मात्रा का विधान इस प्रकार नियमित किया गया है कि सभी वस्तुओं को उस प्रकार प्रयोग करने से साधक में स्वास्थ्य-पूर्ण एक विशेष सत् व्यक्तित्व की स्फूर्ति स्पष्ट हो उठती है और मन में समत्व की वृद्धि होने के साथ-साथ धी-शक्ति प्रबल हो जाती है। दूसरे शब्दों में इस साधना के नियमों का पालन करनेवाला साधक प्रबल मनःशक्ति से सम्पन्न हो जाता है।

प्रकृति के नियमानुसार साधना में उच्छृङ्खलता को कोई स्थान नहीं है क्योंकि तन्त्र का मत है कि प्रकृति के नियमों में कहीं उच्छृङ्खलता नहीं है, सभी

सुनियन्त्रित हैं। तब मनुष्य उच्छृङ्खल कैसे हो सकता है? विशेष कर वह, जो धर्म-साधना के द्वारा जीवन को नियन्त्रित करता है।

यहाँ एक बात और विचारणीय है। इस समय वर्तमान समाज में जो विचित्र शिक्षा-पद्धति प्रचलित है, उसके कारण विवाहादि संस्कारों के समय को छोड़कर अन्य समयों में हमारे मन में धर्म-भावना के विकास और आत्म-शक्ति के विस्तार के लिये जो भी मार्ग उपदिष्ट किये गये हैं, उनके प्रति हम अविश्वास या सन्देह ही करना सीखते हैं। उक्त शिक्षा की कोई उपयोगिता इस तन्त्र-धर्म के समझने में तो है ही नहीं, किन्तु अन्य किसी भी धर्म के समझने में वह उपयोगी है, इसमें सन्देह ही है। ऐसी दशा में तन्त्र में जो तीन स्तर निर्दिष्ट किये गये हैं, वे सारे मनुष्य-समाज को स्पष्ट भाव में विभक्त करते हैं और उक्त पञ्च उपकरणों को नियमानुसार ग्रहण कर साधना-पथ पर अग्रसर होने से प्रथम स्तर के मनुष्य सहज ही द्वितीय या मध्यम स्तर के मार्ग पर पहुँच जाते है, इसमें सन्देह नहीं।

तन्त्र-सिद्ध महापुरुषों ने कहा है कि यौवन-काल ही धर्म-साधना का एकमात्र प्रशस्त काल है और उसका प्रारम्भ यौवन का उन्मेष होते ही वांछनीय है। पशवाचार के सम्बन्ध में जो विधान यहाँ वर्णन किया गया है, उसके अनुसार पाँच-छः वर्षों तक साधना करने का क्या प्रभाव होगा, यह विचार कर देखें।

जहाँ तक उन लोगों का प्रश्न है, जो अपने को पञ्च-मकार-साधक अर्थात् प्रथम स्तर का नहीं मानते—उससे ऊँचे स्तर का मानते हैं अर्थात् जो मद्य पान करते नहीं, मत्स्य-मांस खाते नहीं और वयस के गुणानुसार मैथुन अथवा पञ्चम उपकरण के प्रति जिनकी इच्छा नहीं होती, उनके सम्बन्ध में यह स्पष्ट कहने को मैं बाध्य हूँ कि एकमात्र हरि का नाम छोड़कर उनके लिये अन्य कोई उपाय नहीं है; तन्त्र-धर्म में उनके लिये कोई स्थान नहीं है। कारण यह है कि स्वस्थ शरीर और सबल मन ही धार्मिक जीवन का प्रधान अवलम्बन है। जो यह सोचते हैं कि धर्म तो वृद्धावस्था का काम है, उनके लिये किसी धर्म-संघ के सदस्य बनकर मासिक या वार्षिक या एककालीन चन्दा देना और शुभ विचारों का पोषण करना छोड़कर अन्य कुछ कर्तव्य नहीं है। शेष जीवन को भगवच्चिन्तन में वे बिता ही सकते हैं। कोई बाधा यदि उत्पन्न होती है, तो उसे सहना ही होगा। जीव की सभी अवस्थाओं में ईश्वर-चिन्तन का मार्ग तो सभी काल में खुला है। इस दृष्टि से परमा प्रकृति या जगदम्बा का विधान बड़ा ही उदार है, यह बात सभी स्वीकार करते हैं।

प्रथम स्तर में साधक पञ्च-मकारों को लेकर पाँच वर्ष तक जब नियमित रूप से साधना करता है, तब स्वभावत: उसका मन यह हृदयङ्गम कर लेता है कि उक्त पञ्च-मकार उसके काम्य नहीं हैं। प्रकृति का यह एक विचित्र नियम है कि नित्य एक ही प्रकार का भोग किसी को रुचिकर नहीं होता। अतएव पाँच वर्ष के व्यवहार के फलस्वरूप विराग की जागृति होना स्वाभाविक है। अपेक्षाकृत अधिक स्थायी सुख या आनन्द या उच्चतर शक्ति पाने की कामना साधक में क्रमश: उत्पन्न होती जाती है। इस कामना की पूर्ति न होने पर साधक उसकी पूर्ति के लिये अधिकाधिक प्रयत्नशील होने को प्रस्तुत होता है। मद्य, मांस, स्त्री-सम्भोगादि पार्थिव भोगाकांक्षा से ऊपर उठकर वह महाशक्ति को पाने को आतुर हो उठता है। इस प्रकार पशवाचार के फलस्वरूप वह वीराचार की योग्यता प्राप्त करता है। वह शक्तिमान् होने की दिशा में अग्रसर होता है, जिससे इसी जीवन में वह उच्च से उच्च कर्म और भोग सम्पन्न कर सके।

मुक्ति के मार्ग की मुख्य बाधाएँ कौन-कौन सी हैं? अर्थात् निरवच्छिन्न आनन्द की प्राप्ति में बाधक अवस्थाएँ क्या हैं, जिनसे बचकर ही हम स्थायी रूप से सुखी हो सकते हैं? तन्त्र के मतानुसार सुख में बाधक अवस्थाओं का नाम है 'पाश'।

पाश आठ हैं—क्षुधा, तृष्णा, घृणा, भय, लज्जा, मान, राग और द्वेष। मतान्तर से ये हैं—काम, क्रोध लोभ, मोह, मद-मात्सर्य, क्षुधा, तृष्णा और घृणा। शिव का कथन है कि ये ही अष्ट पाश आत्म-चैतन्य से जीव को विमुख रखते हैं, जिससे जीव अपनी शक्ति को समझ नहीं पाता। इन आठ पाशों से मुक्त होते ही जीव शिव हो जाता है। अतः जिस आचार का पालन करने से या जिस साधना के द्वारा पाशों से मुक्ति मिले, उसी का नाम है वीराचार या वीर-साधना।

पश्वाचार के द्वारा साधक जब शक्ति-लाभ या आत्म-शक्ति-स्फुरण के पथ पर अग्रसर होता है, तब गुरु-मुख के उपदेश से उसे बोध होता है कि उक्त पाश-समूह ही उसके शक्ति-सम्पन्न होने में बाधक हैं। प्रत्येक पाश से छुटकारा पाने के लिये अलग-अलग साधना उसे करनी ही है। उदाहरण के लिये 'भय' एक प्रकाण्ड पाश है, जिसका अनुभव बचपन से प्रत्येक प्राणी करता है कि उसके कारण उसकी कितनी शक्ति या आयु व्यर्थ चली जाती है। घोर अमावास्या की निशा में श्मशान में शव के ऊपर आसन बनाकर विविध क्रियाओं की साधना का जो विधान है, उसका पालन करनेवाले साधक को अन्य किस अवस्था में 'भय' का अनुभव हो सकेगा! इसी प्रकार अन्य पाशों से मुक्ति पाने की अन्य साधनाएँ भी हैं।

उदाहरण के लिए घृणा को लें। मानव समाज में एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपने से नीच समझ कर उससे घृणा करता हुआ उसे दुःख या हानि पहुँचाते-पहुँचाते किस निन्दनीय दशा को प्राप्त होता है, यह इतिहास को जाननेवाले भले प्रकार जानते हैं किन्तु उसे छोड़कर क्षुद्र बातों पर ही विचार करें कि टमाटर, गोभी, प्याज, लहसुन जैसी कितनी हितकारी वस्तुएँ हैं किन्तु हमारे घर की स्त्रियों को उनसे घृणा होने से उनका लाभ पाने से हम वंचित रहते हैं। इस प्रकार एक 'घृणा' के कारण हम कितने संकुचित हो उठते हैं। 'घृणा' को जय करना सरल नहीं है किन्तु वीराचार की साधना से एक-एक कर सभी पाशों से साधक मुक्त होता जाता है।

अष्ट-पाशों से मुक्त होने के लिये 'वीर' बनना ही पड़ता है और उसके लिये विशेष साधना करनी पड़ती है, उसका परिचय यहाँ देने का स्थान नहीं है। यह अवश्य उल्लेखनीय है कि अष्ट-पाशों से विमुक्त होने पर साधक दिव्य भाव का अधिकारी होता है।

दिव्याचार के श्रेष्ठ व्यवहार में नियमपूर्वक कोई कर्मानुष्ठान नहीं है। आनुष्ठानिक कर्म के बाहर ही दिव्याचार की साधना है, जो सम्पूर्णतया मानसिक और चैतन्य-घटित व्यापार है, जिसके फलस्वरूप समाधि लग जाती है, किन्तु यह समाधि जड़ समाधि नहीं होती। एक-एक तत्व में समाहित होने की शक्ति रहती है। इस विश्व-जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं होती, जिसे दिव्याचारी साधक जानने की इच्छा करे और जान न सके।

तन्त्र में अनेक प्रकार की आभिचारिक क्रियाओं का वर्णन है, वह सब तन्त्र का जंजाल है। तन्त्र की उक्त असली साधना इन्हीं के पीछे गुप्त चली आई है। मन्त्र की दीक्षा लेकर जो शक्ति-साधना की जाती है और उससे जो सिद्धि प्राप्त होती है, उसी के फल से समाज का असाधारण कल्याण होता आया है। शिव के इस तन्त्रोक्त धर्म में अभिचार-क्रियाओं का कहीं समर्थन नहीं मिलता, अपितु अनेक स्थलों पर उन्होंने इनके विरुद्ध सावधान रहने का निर्देश दिया है।

'मन्त्र' शब्द-मात्र नहीं हैं, इस बात पर किसी को विश्वास कराना सरल नहीं है। तथापि यह एक सत्य बात है कि व्यक्ति-विशेष में ऐकान्तिक शक्ति के प्रयोग से मनः-संयम के फल-स्वरूप शब्द-मात्र प्रतीत होनेवाला 'मन्त्र' जाग्रत् होकर अभीष्ट फल को प्राप्त कराता है। तन्त्र-मत में मन्त्र-मयी इसी शक्ति-साधना का निर्देश किया गया है और इससे व्यक्ति तथा समाज का सब प्रकार से कल्याण होता है।

तान्त्रिक वाङ्मय का गौरव

तन्त्रशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत एवं व्यापक है। उसकी परिधि में दर्शन, विज्ञान, कला, साहित्य, व्यवहार आदि अनेक विषयों का समावेश हो जाता है। इस शास्त्र में सर्व प्रकार की भौतिक समृद्धि और आध्यात्मिक सम्पदा तथा बहुत सी विस्मय-जनक सिद्धियाँ अर्जन करने के विषय में प्रतिपादन किया गया है। दार्शनिक विचार सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूप से निबद्ध किये गये हैं। वैष्णव तन्त्रों में विशिष्टाद्वैत का, शैव तन्त्रों में किसी में द्वैत का, किसी में अद्वैत का और किसी में द्वैताद्वैत का; शाक्त तन्त्रों में विशेषकर अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार तन्त्र-शास्त्र का अति विशाल क्षेत्र होने पर भी सामान्य जन मन्त्र-यन्त्रादि पुरश्चरण, मारण-मोहनादि को ही प्रायः 'तन्त्र' मानते हैं।

वाराही तन्त्र में जो 'तन्त्र' का लक्षण दिया गया है, उससे यही प्रतीत होता है कि तन्त्रशास्त्र में लौकिक सिद्धियों के विषय में जो वर्णन है, वह लौकिक फल-कामनाओं में आसक्त सामान्य सकामी श्रद्धालुओं में प्रवृत्ति-जागरण हेतु दिया गया है, न कि उक्त क्षेत्र के संकोच के लिए। सब विद्याओं में सामान्य जनों को प्रवृत्ति उत्पन्न करने के लिए प्रथम साध्य की सिद्धि हेतु ही साधन-विधि का वर्णन है। वेद, उपनिषद्, पुराण, योगादि सभी में यह परिपाटी दृष्टिगोचर होती है। किन्तु यह विस्मरण करने की बात नहीं है कि सिद्धियों से आसक्ति हटाकर भगवती आत्म-शक्ति की तरफ अभिमुख होकर और निरन्तर जागरूक होते हुए उस परा-शक्ति का अनुसन्धान किया जाए। इसीलिए तन्त्र-शास्त्र के प्रति आस्था रखनेवाले सामान्य-जनों को भी तन्त्र के इस उच्च आदर्श के प्रति अपनी आत्म-भावना केन्द्रित करके मानव जीवन को पवित्र करके सर्वतोमुखी अपनी आत्मा का विकास करते हुए पराकाष्ठा में आरोहण करके युग-धर्मोपयोगी जो सुलभ उपाय 'तन्त्र' में प्रतिपादित किये गये हैं, उनके अध्ययन हेतु सर्वविध प्रयत्न करना चाहिए।

सिद्धियों और आश्चर्यजनक कृत्यों के लोभी भी तन्त्र में प्रवृत्त होने पर तन्त्र के गौरव को हृदयङ्गम करते हुए यथाविधि साधना करने पर तन्त्र की सिद्धियों को प्रत्यक्ष करने में समर्थ होंगे और सिद्धियों के लोभ से तन्त्र-शास्त्र का पारायण कर श्रद्धा उत्पन्न होने पर तान्त्रिक सिद्धाचार्यों का दर्शन प्राप्त कर पुण्य लाभ करेंगे। तदनन्तर क्रमशः एक दिन मुक्ति-भाजन भी होंगे, इसमें संशय नहीं।

इस समय समय-गति का अवलोकन कर गुप्त तन्त्रों का प्रकाशन कर किसी तांत्रिक संघ द्वारा देश में पुनः तान्त्रिक साधना का भली प्रकार प्रचार किया जा सकता है। इसके लिए तांत्रिक आचार्यों का जनता से सीधा सम्पर्क होना आवश्यक है, जिससे तन्त्र की साधना के गौरव और प्रतिष्ठा का प्रचार होकर कुलार्णव के निम्न कथन की सत्यता स्थापित होकर सांसारिक जनों के वास्तविक स्वरूप का परिवर्तन हो—'जहाँ भली प्रकार भोग योग को प्राप्त होता है और पातक सुकृत रूप में परिवर्तित होकर मानव संसार-सागर से मोक्ष को प्राप्त कर सकता है, हे कुलेश्वरि, ऐसा 'कुल-धर्म' है। जहाँ भोगों का बाहुल्य है, वहाँ योग कहाँ और जहाँ योग है, वहाँ भोग का अभाव है। कुल-धर्म-स्थित कौल के लिए भोग और योग उभय ही हस्तगत हैं।'

इस प्रकार संसार में इस समय विज्ञान के विकास द्वारा जो भयानक संहारानल उपस्थित होनेवाला है; उसका 'कुल-धर्म' के द्वारा सहज ही निराकरण हो सकता है। यदि विश्व-मानव कुल-धर्म पर अग्रसर होकर भगवती पराम्बा को साधना करे, तो कुल-धर्म के प्रभाव से दैवी सम्पदाएँ प्राप्त कर सभी मनुष्य वर्तमान संकीर्णता से विमुक्त होकर पूर्ण रूप से स्वतन्त्र, सुखी और सुरक्षित हो सकते हैं।

भारतीय संस्कृति और आचार-परम्परा के चार मुख्य जीवन-स्रोत हैं—श्रुति, स्मृति, पुराण और तन्त्र। भारत का समग्र जीवन, समग्र जीवन-दृष्टि, परिपूर्ण विकास और संस्कृति इन चार आधार-स्तम्भों पर ही आश्रित है। इसलिये इन सबका समान भाव से संरक्षण व प्रचार करने पर ही भारतीय संस्कृति को समुचित उन्नति हो सकती है। तांत्रिक संस्कृति का वर्तमान कलियुग के लिये कितना महत्व है, यह निम्न आदेश से स्पष्ट है—

कृते श्रुत्युक्त आचारस्त्रेतायां स्मृति-सम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्त कलौ आगम-सम्मतः॥

'तन्त्र' शब्द विस्तार-वाचक है। जो आधि-भौतिक, आधि-दैविक और आध्यात्मिक—तीनों शक्तियों का विस्तार करते हुये मनुष्य की रक्षा करे, उसका नाम 'तन्त्र' है। किसी भी ज्ञान के विषय का विस्तार के साथ प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ को भी 'तन्त्र' कहते हैं। 'तन्त्र' कुटुम्ब-समूह इत्यादि का भी नाम है। शैव, शाक्त, बौद्ध, जैन इत्यादियों के भी अपने 'तन्त्र' हैं। कपिल, जैमिनि, वशिष्ठ, नारद, गर्ग, पुलत्स, भार्गव, याज्ञवल्क्य, भृगु, शुक्र, बृहस्पति आदि मुनियों के भी प्रणीत 'तन्त्र' हैं। पञ्च सिख मुनियों ने भी बहुत से 'तन्त्र-ग्रन्थों' का निर्माण किया है। सांख्य 'तन्त्र' आदि भी हैं। शङ्कराचार्य द्वारा लिखित गायत्री तन्त्र है। राजनैतिक 'तन्त्र' जैसे पञ्च-तन्त्र, हितोपदेश, मित्र-भेद, मित्र-प्राप्ति, सन्देह-विग्रह, लब्धनाश आदि का जिसमें प्रतिपादन है। राज-धर्म, दान-धर्म, युग-धर्म-व्यवहार, आध्यात्म का वर्णन, यन्त्र-विज्ञान भी तन्त्रों में ही आ जाता है। इसी प्रकार भारत भी प्रजातन्त्र राष्ट्र है। तन्त्र का धार्मिक ग्रन्थों में 'आगम' नाम भी प्रसिद्ध है। यथा—

आगतं शिव-वक्त्रात्तु गतं च गिरिजा-मुखे।
मतं श्री वासुदेवेन आगमं सम्प्रचक्षते॥

अभिनव गुप्ताचार्य ने 'आगम' व 'तन्त्र' शब्द को एकार्थ-वाचक कहा है। पाञ्चरात्रागम भी 'तन्त्र' के अन्तर्गत है। विश्वसार तन्त्र में भारतीय तन्त्रों के अलावा चीन देश के तन्त्रों की भी गणना की गई है।

एवलॉन उडरफ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने बहुत से तन्त्रों का आंग्ल भाषा में अनुवाद किया है। बारटेन महोदय ने अभिनव गुप्त के परामोद-सार का अनुवाद किया है। वायुर महोदय ने खेमराज कृत प्रत्यभिज्ञा-हृदय का जर्मन भाषा में अनुवाद किया है। पाश्चात्य देशों में तन्त्र-विषयक कई पत्रिकायें एवं तांत्रिक संस्थानों के होने के कारण पाश्चात्य विद्वानों की तन्त्र-विषयक रुचि का पता लगता है। डा० ग्नोलिति ने इटली भाषा में अभिनव गुप्त कृत तन्त्रसार का अनुवाद किया है। फ्रांस के पेरिस-विश्वविद्यालय की सिलवरन नाम की एक विदुषी ने अभिनव गुप्त कृत परामृशिका का अपनी भाषा में अनुवाद किया है।

हमारे देश में भी काश्मीर-अनुसंधान-विभाग, देवशालपुरी, शिवागम-सिद्धान्त-परिपालन-संघादि ने तान्त्रिक ग्रन्थों का अनुसंधान किया है। काशीस्थ स्वर्गीय महामहोपाध्याय कविराज गोपीनाथ ने तन्त्र-विषयक बहुत से ग्रन्थों का निर्माण कर तान्त्रिक साधना के प्रति अपनी श्रद्धा प्रकट की है।

काश्मीर में तीन दर्शनों का उद्भव हुआ है। अभिनव गुप्त ने सबकी व्याख्या की है। इसमें जो क्रम-दर्शन है, वह विशेषतया शक्तिवादी दर्शन है

और कुल-प्रत्यभिज्ञान-दर्शन से भिन्न है। इसके इतिहास क्रम व गुरु-परम्परा व आगम भी भिन्न हैं। इसका कुल-दर्शन से विशेष साम्य है। इस दर्शन का विशेष वर्णन मालिनी-विजय-वार्तिकादि ग्रन्थों में लिपिबद्ध किया गया है। जयरथ ने अपनी तन्त्रालोक की टीका में क्रम-दर्शन, क्रम-जप इत्यादि नाम से इसका परिचय दिया है। इस दर्शन के अनुसार विकल्प संसार ही निर्विकल्प ज्ञान व मुक्ति का उपाय है। विकल्प संसार-क्रम से होता है, सहसा नहीं होता है। इसीलिये इस दर्शन के नाम क्रम-देश, कालीनय इत्यादि हैं। इस दर्शन में काली ही पर-तत्व है। जैसे कल-गतौ आदि धातुओं की साधना से सिद्ध होनेवाले शब्द हैं। सब कुछ लय-कर बाहर विक्षेप करती हुई अपनी आत्मा-भेद से दर्पण-गत प्रतिबिम्ब की तरह अपने अभिन्न होने पर भी जो भिन्न की तरह भासता है और प्रमातृ व प्रमेयादि सकल राशि, 'यह है, यह नहीं है' इत्यादि भेद से अवस्थापना की गई है और समस्त अविकल्प जो ज्ञान है, उसका जहाँ विलोप हो जाता है, वही काली है। जो संसार को बाहर प्रकट कर परस्पर भेद दर्शाती हुई उसको अपनी आत्मा के प्रतिबिन्दु के रूप में धारण करती है और अपने से अभिन्न रूप से ग्रहण करती हुई अपने में ही विलापन करती है, उसी को काली कहते हैं। जहाँ शिव-दर्शन में शिव-कृपा से मोक्ष प्राप्त होता है, वहाँ क्रम-दर्शन में क्रम से साधन करने से ही मोक्ष प्राप्त होता है। इस दर्शन में प्रधान रूप से देवी को ही स्वीकार किया गया है।

शिव के उत्तर-मुख से उत्पन्न आगम क्रम-दर्शन के आश्रय हैं और शिव का उत्तर-मुख है 'वाम'। इसीलिये इस दर्शन द्वारा प्रदर्शित मार्ग भी 'वाम-मार्ग' है। पीठों में उत्तर-पीठ है, जो काश्मीर में है। इस क्रम-दर्शन का जो साहित्य है, उस महार्थ-मंजरी के कर्ता महेश्वरानन्द शिवानन्द को प्रथम प्रवर्तक मानते हैं। जयरथ ने तन्त्रालोक की टीका में शिवानन्द की शिष्य-परम्परा का वर्णन किया है। शिवानन्द के तीन शिष्य थे, जिनकी बहुत सी शिष्य-परम्पराएँ आगे बढ़ी हैं। इसमें गोविन्द राज भानुक आदि ने बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की। भानुक के अनेक प्रतिभाशाली शिष्य हुये। जयरथ ने भी इसी क्रम-दर्शन की गुरु-परम्परा ग्रहण की है। जयरथ की एक शिष्य-परम्परा से रत्ननाथ, भोजराज सोम-नाथ आदि तीन शिष्य परम्पराएँ प्रचलित हैं, यह उनके तन्त्र-ग्रन्थों से प्रमाणित है।

क्रम-दर्शन के आगम और आगम-आश्रित ग्रन्थादि दो प्रकार उपलब्ध होते हैं। जैसे क्रमसद, क्रम-सिद्धि, क्रमराज, भट्टारक आदि ग्रन्थों में इस क्रम-दर्शन का प्रतिपादन किया गया है। इस दर्शन में भगवती स्फुरणा-धारा हैं और चिति ही चेतन-पद-आरूढ़, चैत्य-संकोचनी, चित्त पर आरूढ़ है। वैष्णवों के पर-प्रकृति सायुज्य-रूपी मोक्ष, ब्रह्म-वादियों के आनन्द-रूप मोक्ष, विज्ञान-वादियों के विशुद्ध-चित्तात्मक मोक्षादि से इस दर्शन का मोक्ष भिन्न है। क्रम-दर्शनादि-प्रतिपादित योग भी पातञ्जल व हठ-योगादि से भिन्न है। ग्रन्थों के देखने से उसे बहुत विस्तार से जाना जा सकता है। ऐसे घोर कलिकाल में विशाल-मानस विद्वान् महानुभावों द्वारा ही तन्त्रशास्त्र का प्रचार-प्रसार भारत-वसुन्धरा में होकर हमारे गौरव की पताका समस्त विश्व के मध्य में प्रकाशित होगी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

यह सब कार्य करुणा-वरुणालया भगवती की कृपा से ही होगा। श्री भगवान् शिव द्वारा रचित सकल-श्रुति-सार रूप यह तन्त्र-सार सदा ही आरा-धकों के मनोरथों को पूर्ण करता हुआ, आपद्-गणों को चूर्ण करता हुआ सिद्ध औषधी की तरह रोगों को दूर करता हुआ, कल्पतरु की तरह सकल अभि-लषितों को प्रदान करता हुआ, मार्तण्ड की तरह सुख-कमल का विकास करनेवाला, दुःख-तम दैन्य को विदारण करनेवाला, देव-देवी-मानुष-यक्ष-गन्धर्व-राक्षस-पिशाचादिकों को वशकर प्रसादन और सन्तोष को बढ़ानेवाला यह तन्त्र है, इसमें सन्देह नहीं। इसकी साधना करनेवाला—इस पर श्रद्धा रखनेवाला निस्सन्देह अपनी अभिलाषा के अनुरूप

कुछ भी कर्तुमकर्तुम् अन्यथा कर्तुम् समर्थ होता हुआ महा-महाराजाओं को वशीभूत कर दानवादि को भी अपने वशीभूत करने में समर्थ होगा। निर्बलों को उत्साह प्रदान करने में सक्षम होगा; बड़े भारी दुर्जनों एवं परम स्नेहियों में भी विद्वेषण करने में समर्थ होगा। समुद्र पार गये हुये को भी आकर्षण करने में समर्थ होगा। हिमालय के समान सुदृढ़ों का उच्चाटन करने में सफल होगा। देवता-प्रसाद से लब्ध शक्ति के कारण अपने प्रभाव से एवं इच्छा-आशीर्वाद से कौतुक से मारण-मोहन आदि एवं अन्य कर्मों में सर्व-तन्त्र-स्वतन्त्र परम समर्थ होगा। ऐसा सामर्थ्य तन्त्र-साधना के बल से प्राप्त हो सकता है, इसमें हमको कोई सन्देह नहीं।

तन्त्र में, तन्त्र-साधना के विषय में, दक्षिण मार्ग की साधना में तो किसी प्रकार का विवाद घटित होने की आशङ्का नहीं है किन्तु वाम-देव्योपासना में, जिसका छान्दोग्योपनिषद् में वर्णन किया गया है, दक्षिण-मार्ग के दृढाग्रही विद्वानों द्वारा बहुत सा प्रतिवाद उपस्थित किया जाता है, जो निरर्थक है। ताण्डच ब्राह्मणादि ग्रन्थों एवं वेद में और तन्त्र के वाम-मार्ग में परिपूर्ण साम्य है। यदि वाम-मार्ग का निरसन किया जायगा, तो वेद के विधि मार्गों पर हरताल का आलेपन करना होगा।

गीता के अनुसार 'वाम' ही शुक्ल पक्षीय उत्तरायण मार्ग है, जो परिपूर्ण मोक्ष-मार्ग है और कृष्ण-पक्षीय दक्षिणायण पुनः पुनः संसार-चक्र में डालनेवाला मार्ग है, जो साधारण जनों के लिये सेवनीय है। 'वाम' की परिपूर्ण सीढ़ी कौल या कुल-धर्म है। ईश्वर को भी अनुभव करने का जो स्थान है, वह वाम भाग में स्थित हृदय-प्रदेश में ही है। इसलिये यही एकमात्र मोक्ष का मार्ग है। अन्य जो मार्ग हैं, वे मोक्ष के अवर-मार्ग ही हैं। पृथ्वी का परिभ्रमण भी वामावर्त ही होता है। पाणिग्रहण संस्कार में जब तक कन्या वामाङ्ग में नहीं होती, तब तक उसकी 'कुमारी' संज्ञा रहती है। यथा—

यावत् कन्या न वामाङ्गे तावत् कन्या कुमारिका।

दक्ष-शाप, भृगु-शाप, गौतम-शाप, ब्रह्म-शाप आदि से ब्राह्मण वेद-मार्ग से बहिष्कृत हो गये थे। वे सब भी तन्त्र-मार्ग से साधना कर मुक्ति को प्राप्त हुये। इसलिये तन्त्र का वेद से भी अधिक वैशिष्टच प्रतिपादन होता है। मुनि जनों ने पूजा-प्रतिष्ठा-यज्ञादि की क्रियाएँ तन्त्र द्वारा ही प्रसारित की हैं। उनका मत भी वाम कौल ही था, जिसके विषय में महानिर्वाणादि तन्त्रों में बार-बार घोषित किया गया है। इससे तान्त्रिक संस्कृति और साधना के अति प्राचीनत्व का बोध होता है। यथा—

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमेव मयोच्यते।
विना ह्यागम-मार्गेण कलौ नास्ति गतिःप्रिये॥
आगमोक्त विधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः।
कलावागममुल्लङ्घ्य योऽन्य-मार्गे प्रवर्तते।
न तस्य गतिरस्तीति सत्यं सत्यं न संशयः॥
कलौ तन्त्रोदिता मन्त्राः सिद्धास्तूर्ण-फल-प्रदाः।
सत्य-त्रेता-द्वापरेषु यथा मद्यादि-सेवनम्।
कलावपि तथा कुर्यात् कुल-धर्मानुसारतः॥
कुल-तत्वं कुल-द्रव्यं कुल-योगिनमेव च।
नमस्कुर्वन्ति ये नित्यं नहि तान् बाधते कलिः॥

तान्त्रिक संस्कृति और तांत्रिक साधना वेद से भी प्रथम की प्रमाणित होती है। कारण सामान्यतया वेद के बहुत से उपनिषदों में सांख्य की ही तत्व-प्रणाली का विश्लेषण किया गया है। विशेष कर प्रकृति-पुरुष एवं अवर ईश्वर-तत्व तक के वेदोक्त के जो कुछ माण्डूक्योपनिषद् आदि हैं, उनमें तन्त्र के ३६ तत्वों का प्रतिपादन किया गया है, किन्तु उनकी व्याख्या कुछ तान्त्रिक विद्वानों को छोड़कर अन्यों ने उस दुरूह मार्ग के श्रम से घबराकर उस विषय का विश्लेषण करने से उदासीनता ही प्रकट की है। ऐसा प्रमाणित होता है कि ब्रह्मलोक तक का ही विशेष वर्णन वेदों में किया गया है। इससे

ऊपर जो शाक्तों के भुवन हैं और उनमें जो देवता हैं, जैसे कि शुद्ध विद्या आदि के लोकों में, उन भुवनों में साधना और सिद्धि लाभ कर स्थित होने का प्रतिपादन करनेवाले और ग्रन्थ कौन से हैं ?

शङ्कित और आश्चर्य-चकित होने की आवश्यकता नहीं है। उस साधना का वर्णन करनेवाले आगम और यामल तन्त्र-ग्रन्थ ही हैं, जो उत्कट रूप से शक्ति-उपासना का वर्णन करते हैं। मुख्यरूप से शाक्त ही उपासक है। उसे ही तान्त्रिक कहते हैं और शक्ति-उपासना के जो ग्रन्थ हैं, उन्हीं को 'तन्त्र' कहते हैं। अन्य देवताओं के जो तान्त्रिक ग्रन्थ हैं, वे गौण रूप से ही तान्त्रिक साधना का वर्णन करते हैं। इससे वेद से भी तन्त्रों का प्राचीनत्व प्रतीत होता है। इसके सिवा चार यामलों से चार वेदों की उत्पत्ति का प्रमाण भी उपलब्ध होता है।

अनमोल विचार

'तन्त्र' शब्द 'तन्' + 'त्र' (ष्ट्रन) से निष्पन्न हुआ है। 'तन्' = वितान करना, विस्तार करना और 'त्र' = त्राण करना, रक्षा करना। अतः 'तन्त्र' का अर्थ हुआ विस्तारपूर्वक रक्षा करना। जो शास्त्र विस्तारपूर्वक सर्व ओर से हमारी रक्षा करता है, अर्थात् जिस शास्त्र के सिद्धान्तों पर अमल करने से सम्यक् प्रकार से हमारी रक्षा होती है, वही तन्त्र-शास्त्र है।

इस विशाल विश्व को देखकर एक स्वाभाविक जिज्ञासा होती है—'सृष्टि प्रारम्भ होने से पूर्व जब कि यह दृश्य प्रपञ्च कुछ भी नहीं था, तब क्या था ? यह विश्व कहां से आया ? इस विश्व की उत्पत्ति किससे हुई ? इस प्रश्न का उत्तर सृष्टि-क्रम अथवा विज्ञान है। एकमात्र अद्वितीय शिव जीव-रूप में कैसे परिणत हो गया ? एक से अनेक कैसे हो गया ? इन सब प्रश्नों के उत्तर मिलेंगे 'तन्त्र' शब्द के 'तन्' भाग से।

अनेक से एक की ओर जाना, तूल से मूल को प्राप्त करना ही ज्ञान है। एवं यह ज्ञान ही त्राणकर्त्ता 'त्र' भाग है। जिस दिन इस ज्ञान पर हम आरूढ़ हो जायँगे- उसी दिन हमारा त्राण हो जायगा। 'तन्त्र' शब्द का 'त्र' भाग इसी ज्ञान-पक्ष की ओर लक्ष्य करता है।

अतः 'तन्त्र' शब्द की व्याख्या करते हुए हम कह सकते हैं कि 'तन्त्र' का मौलिक अर्थ है 'विज्ञान-सहित ज्ञान।'

—'क्या रामचरित-मानस एक तन्त्र है' से

तन्त्र

'तन्त्र'-शब्द की व्युत्पत्ति

शक्ति-साधना तन्त्रशास्त्र द्वारा निर्दिष्ट साधना है। काशिका-वृत्ति में 'तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च' (८।२।६) इस सूत्र की व्याख्या में 'उणादिष्वपि सर्व-धातुभ्य: ष्ट्रन्' इस नियम के अनुसार 'तन्' धातु में 'ष्ट्रन्' प्रत्यय लगाने से 'तन्त्र' शब्द बनता है। तन् धातु का अर्थ है विस्तार करना। अत: तन्त्र की व्याख्या में कहते हैं कि 'तन्यते विस्तार्यते ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्, अर्थात् इस शास्त्र से ज्ञान का विस्तार होता है, इससे इसे 'तन्त्र' कहा जाता है।

कामिकागम में लिखा है कि यह शास्त्र तत्व एवं मन्त्र-सहित अपार विषयों का विस्तार करता है और जीव का त्राण (रक्षण) करता है, इससे इसे 'तन्त्र' कहते हैं—

तनोति विपुलानर्थान् तत्व-मन्त्र-समन्वितान्।
त्राणं च कुरुते यस्मात् तन्त्रमित्यभिधीयते ॥

'तन्त्र' शब्द का व्यापक अर्थ

संस्कृत भाषा में 'तन्त्र' का अर्थ बड़ा व्यापक है। वाचस्पति-अभिधान एवं शब्द-कल्पद्रुम में इसका अर्थ यह दिया है कि 'कुटुम्ब-भरणादि-कृत्य-सिद्धान्त औषध प्रधान परिच्छद वेद-शाखा-हेतु उभयथैक-प्रयोग इति कर्तव्यता तन्तुवाय राष्ट्र पर-च्छन्दानुगमन स्वराष्ट्र-चिन्ता प्रबन्ध शपथ धन गृह वयन साधन कुल शिवाद्युक्त-शास्त्र व्यवहार व नियम।'

शास्त्र मात्र को 'तन्त्र' कहते हैं। (मातृकाभेद तन्त्र, भूमिका पृष्ठ १)। ज्योतिष के अंश-विशेष का नाम 'तन्त्र' है। यथा—

'स्कन्देऽस्मिन् गणितेन या ग्रह-गतिस्तन्त्राभि-धाना त्वसौ'—वराहमिहिर:।

सांख्य-दर्शन को 'तन्त्र' कहते हैं (सांख्य-कारिका ८०)। आचार्य शङ्कर 'तन्त्र' नामक स्मृति का उल्लेख करते हैं—

'स्मृतिश्च तन्त्राख्या परमर्षि-प्रणीता शिष्ट-परिगृहीता'—ब्र० सू० २।१।१ का शङ्कर-भाष्य

सुश्रुत (१।३।१३) 'आयुर्वेद-तन्त्र' की चर्चा करते हैं—इत्यष्टाङ्गमिदं तन्त्रमादि-देव-प्रकाशितम्।

शिवादि-प्रोक्त तन्त्र

जिस तन्त्रशास्त्र में शक्ति-साधनादि का निर्देश किया गया है, वह शिवादि-प्रोक्त है। उसे मन्त्र-शास्त्र भी कहा जाता है।

उप-तन्त्र

जो सिद्ध ऋषि-प्रोक्त तन्त्र हैं, उन्हें वाराही तन्त्र में अतन्त्र और उप-तन्त्र कहा है। यथा—

सैद्धोक्तान्युप-तन्त्राणि कपिलोक्तानि यानि च।
अद्भुतानि च एतानि जैमिन्युक्तानि यानि च ॥
वशिष्ठ: कपिलश्चैव नारदो गर्ग एव च।
पुलस्त्यो भार्गव: सिद्धो याज्ञवल्क्यो भृगुस्तथा ॥
शुक्रो वृहस्पतिश्चैव अन्ये ये मुनि-सत्तमा:।
एभि: प्रणीतान्यान्यानि उप-तन्त्राणि यानि च ॥
विसंख्यातानि तान्यत्र धर्मविद्भिर्महात्मभि:।
सारात् सारतराण्येव संख्यातानि निबोधत ॥
—वाराही तन्त्र (वाचस्पति से)

तन्त्रशास्त्र साधन-शास्त्र है। तन्त्र के तत्वज्ञों का मानना है कि ऋषि साधन-शास्त्र के रचयिता न होकर, उनके स्मरण करनेवाले हैं। 'तन्त्र-तत्व' में लिखा है कि 'जिस प्रकार राजकीय सभा के सदस्य राजनीति के रचयिता नहीं हैं, अपितु उसके ज्ञाता होते हैं, उसी प्रकार तत्व-दर्शी ऋषि भी किसी साधन-शास्त्र के रचयिता न होकर उसके स्मरण करनेवाले मात्र हैं।'

ऐसी दशा में ऋषि-प्रोक्त 'तन्त्र' उप-तन्त्र हैं, यह सर्व-सम्मत मत नहीं है। अगस्त्य संहिता, सनत्कुमार संहिता, गौतमीय तन्त्र आदि वैष्णव तन्त्र ऋषि-प्रोक्त ही हैं, किन्तु इन सबको 'तन्त्र' ही कहा गया है। (कौल-मार्ग-रहस्य)

तन्त्रशास्त्र के विभाग

तन्त्रशास्त्र के १ आगम, २ यामल और ३ तन्त्र ये तीन मुख्य विभाग हैं। यथा—

'तन्त्रशास्त्रं तु प्रधानतस्त्रिधा विभक्तं आगम-यामल-तन्त्र-भेदतः।-मातृकाभेद तन्त्र,भूमिका पृष्ठ २

निश्चय ही आगम, निगम, यामल, तन्त्र, संहिता इत्यादि को समान्यतः समानार्थक शब्द-रूप में ही तन्त्रशास्त्र में प्रयोग किया गया है। साधारण बातचीत में भी इनके सम्बन्ध में कोई भेद नहीं किया जाता। तथापि इनमें परस्पर अन्तर है।

आगम

विश्वसार तन्त्र में लिखा है कि १ सृष्टि, २ प्रलय, ३ देवता की यथाविधि अर्चना, ४ सब मन्त्रों की साधना, ५ पुरश्चरण, ६ षट्-कर्म-साधन और ७ चतुर्विध ध्यान योग—इन सात लक्षणों से युक्त शास्त्र को ज्ञानी-जन आगम कहते हैं—

सृष्टिश्च प्रलयश्चैव देवतानां यथार्चनम्।
साधनं चैव सर्वेषां पुरश्चरणमेव च।।
षट्कर्म-साधनं चैव ध्यान-योगश्चतुर्विधः।
सप्तभिर्लक्षणैर्युक्तमागमं तद् विदुर्बुधाः।।

कुलार्णव तन्त्र के अनुसार आचार का वर्णन होने से, यथाविधि दिव्य-गति प्राप्ति-विधान एवं महान् आत्म-तत्व का कथन होने से 'आगम' कहा गया है—

आचार-कथनाद् दिव्य-गति-प्राप्ति-विधनतः।
महात्म-तत्व-कथनादागमः कथितः प्रिये।।
कु० तं०, प० १८

रुद्रयामल में 'आगम' शब्द की व्याख्या यह दी है कि शिव के मुख से निकलने से, गिरिजा के मुख में जाने से, वासुदेव का मत होने से इस शास्त्र को 'आगम' कहते हैं अर्थात् 'आगतं', 'गतं' और 'मतं' इन तीन शब्दों के प्रथमाक्षरों आ+ग+म को लेकर 'आगम' शब्द बना है—

आगतं शिव-वक्त्रेभ्यो गतं च गिरिजा-मुखे।
मतं श्रीवासुदेवस्य तस्मादागम उच्यते।।

निगम

आगम के साथ ही 'निगम' का नाम आता है। इस नाम की व्याख्या में कहा गया है कि गिरिजा के मुख से निकलने से, शिव के कान में जाने से और वासुदेव का मत होने से इस शास्त्र को 'निगम' कहते हैं—

निर्गतो गिरिजा-वक्त्रात् गतश्च गिरिश-श्रुतिम्।
मतश्च वासुदेवस्य निगमः परिकथ्यते।।
आगम-द्वैत-निर्णय

इस प्रकार 'निर्गतः,' 'गतः' और 'मतः' इन तीन शब्दों के प्रथमाक्षरों नि+ग+म को लेकर 'निगम' शब्द बना है।

आगम और निगम के स्वरूप में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अतः व्यवहारतः और सामान्यतः इनमें कोई भेद माना नहीं जाता। उदाहरण के लिए भास्करराय ने कामिकादि अट्ठाइस शैवागमों को वेद-सम्मत और कपाल-भैरवादि तन्त्रों को वेद-विरुद्ध कहा है किन्तु आगम-समूह को परमेश्वर के मुख से उद्भूत आज्ञा-स्वरूप वेदानुगामी निगम बताया है—

तेषु वैदिकानि 'निगम'-पद-व्याच्यानि परमेश्वरस्य मुखादुद्भूत-त्वादज्ञा-रूपाणि—
ल० स० ११८ सौ०भा०

यहाँ उल्लेखनीय है जिस प्रकार निगम की कहनेवाली देवी हैं, उसी प्रकार उड्डीश-श्रेणी के

तन्त्रों को भी कहनेवाली देवी ही हैं। (तारा-तन्त्र, भूमिका पृ० ५)

विभिन्न सम्प्रदायों के आगम

सम्प्रदाय-भेद से आगम अनेक प्रकार के हैं। शक्ति-संगम तन्त्र में शैव, शाक्त, गाणपत्य, सौर, वैष्णव, महा-वीर, पाशुपत, वीर-वैष्णव, वीर-शैव, चान्द्र, स्वायम्भुव, ग्यारह प्रकार के शाबर, ग्यारह प्रकार के घोर, माया-कापालिक, वीर, बौद्ध, जैन, दस प्रकार के चीन, सौ प्रकार के बौद्ध, दस प्रकार के पाशुपत और आठ प्रकार के कौल आगमों का उल्लेख है—

शैवं शाक्तं गाणपत्यं सौरं वैष्णवमेव च।
महा-वीरं पाशुपतं वैष्णवं वीर-वैष्णवं॥
वीर-शैवं तथा चान्द्रं स्वायम्भुवमनन्तरं।
पाञ्चरात्रं गारुडं च केरलं शाबरं तथा॥
श्रीसिद्ध-शाबरं देव तथैव काल-शाबरं।
कुमारी-शाबरं देव विजया-शाबरं तथा॥
कालिका-शाबरं दिव्य-शाबरं वीर-शाबरं।
श्रीनाथ-शाबरं देव तारिणी-शाबरं परं॥
श्रीशम्भु-शाबरं रुद्र-संख्या शाबर-जातयः।
रक्त-घोरस्तथा शुक्लो घोरविन्मूत्रकस्तथा।
भक्ष-घोरस्तथा वान्त्यो घोर-घोरतरः स्मृतः।
वीणा-घोरस्तथा नीलः सर्व-भक्षाभिधस्ततः॥
घोराघोरस्तथा सिद्धो घोराश्चैकादश स्मृताः।
माया-कापालिकं चापि वीर-बौद्धागमौ तथा॥
जैनागमो रक्त-शुक्ल-पट-सम्बन्धि-जातयः।
चीन-भेदास्तु बहवो द्वि-शतेति प्रकीर्तिताः॥
बौद्धानां शत-भेदाः स्युर्दश पाशुपतेः स्मृताः।
कौले भेदाष्टकं चावधूतं वैदिक-शास्त्रकम्॥

—श० सं० तं०, ता० खं० — १।२४-३२

शक्ति-संगम तन्त्र के उक्त कथन की यथार्थता की जाँच करना कठिन है, किन्तु इससे यह स्पष्ट है कि शक्ति-सङ्गम के काल में विभिन्न सम्प्रदायों के बहुत से आगम-ग्रन्थ प्रचलित थे।

सदसदागम

शाक्तानन्द-तरङ्गिणी में लिखा है कि 'आगम'-शब्द के मुख्य अर्थ के अनुसार सदागम ही आगम हैं—

सदागम एव आगम-शब्दस्य मुख्यत्वात्

—शा० तं०, उ० २

आगम-संहिता में शिव ने स्पष्ट शब्दों में असदागम की निन्दा की है—

कलौ प्रायेण देवेशि ! राजसास्तामसास्तथा।
निषिद्धाचरणाः सन्तो मोहयन्त्यपरान् बहून्॥
आवाभ्यां पिशितं रक्तं सुरां चैव सुरेश्वरि।
वर्णाश्रमोचितं धर्ममविचार्यार्पयन्ति ये॥
भूत-प्रेत-पिशाचास्ते भवन्ति ब्रह्म-राक्षसाः।

—शा० त०, उ० २

अर्थात् हे देवेशि ! कलियुग में लोग प्रायः राजस या तामस होंगे। वे निषिद्ध आचार-परायण होकर बहुत से लोगों को भ्रमित करेंगे। जो वर्णाश्रम-धर्म की उपेक्षा कर मांस, रक्त एवं सुरा हम दोनों को अर्पित करेंगे, वे भूत-प्रेत एवं ब्रह्म-राक्षस होंगे।

उक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि आगम-संहिता के अनुसार जिन आगमों में वर्णाश्रम-धर्म-सम्मत आचार-अनुष्ठानादि निर्दिष्ट नहीं हैं, वे सभी 'असदागम' हैं किन्तु यह बात सबके द्वारा माननीय नहीं है। तन्त्रशास्त्र के अनेक विज्ञ महानुभावों का मत है कि आगम में साधक के अपने आचार के अनुसार जो निषिद्ध क्रिया-व्यवस्था दृष्टिगत हो, वही उसके पक्ष में असदागम है। यथार्थ आराधना ही जिस आगम का लक्ष्य है, वही सत् है और जिसका लक्ष्य वैसा नहीं है, वही असत् है।

वैदिक अवैदिक आगम

कूर्म पुराण के अनुसार शिव और विष्णु ने कापाल, नाकुल या लाकुल, वाम, भैरव, पूर्व, पश्चिम पञ्चरात्र, पाशुपत एवं अन्य अनेक वेद-विरुद्ध आगमों की रचना की—

एवं सम्बोधित रुद्रो माधवेन मुरारिणा ।
चकार मोह-शास्त्राणि केशवोऽपि शिवेरितः ॥
कापालं नाकुलं वामं भैरवं पूर्व-पश्चिमं ।
पञ्च-रात्रं पाशुपतं तथान्यानि सहस्रशः ॥

—कू० पु०, पू० भा०, १६।११६-१७

उक्त पुराण में शिव का कथन है कि मैंने मोह-कारक वेद-वाद-विरुद्ध अनेक शास्त्रों को रचना की है। उनमें हैं वाम, पाशुपत, सोम, लाकुल एवं भैरव आगम। ये सब तथा अन्य वेद-विरुद्ध शास्त्र असेवनीय हैं—

अन्यानि चैव शास्त्राणि लोकेऽस्मिन् मोहनानि च।
वेद-वाद-विरुद्धानि मयैव कथितानि तु ॥
वामं पाशुपतं सोमं लाकुलं चैव भैरवम् ।
असेव्यमेतत् कथितं वेद-बाह्यं तथैतरम् ॥

—कू० पु०, उपविभाग, ३७।१४६-४७

पाशुपत आगम को वेद-बाह्य कहा है किन्तु कूर्म-पुराण में ही पाशुपत व्रत को गुह्य, गुह्यतम और वेद का सार बताया गया है—

निर्मितं हि मया पूर्वं व्रतं पाशुपतं शुभं ।
गुह्याद् गुह्यतमं सूक्ष्मं वेद-सारं विमुक्तये ॥

कू० पु०, उपविभाग, ३७।४१

इसी प्रकार पञ्चरात्र आदि के सम्बन्ध में कूर्म-पुराण का उक्त कथन सर्व-सम्मत नहीं है क्योंकि सभी पञ्चरात्र वेद-विरुद्ध नहीं हैं। अनेक स्मार्त निबन्धकारों ने नारद पञ्चरात्र, महाकपिल पञ्च-रात्र, हयशीर्ष पञ्चरात्र आदि से प्रमाण उद्धृत किये हैं। स्मृति शास्त्र-मात्र वेदानुसार है। ऐसो दशा में यदि सभी पञ्चरात्र वेद-विरुद्ध होते, तो निबन्धकार उनके वचनों को उद्धृत न करते।

— कौ० र०, पृ० १०५-१०६, पाद-टीका

आगम के तीन विभाग

कहीं-कहीं आगम शास्त्र के तीन विभागों— १ तन्त्र, २ यामल और ३ डामर का उल्लेख मिलता है। तन्त्र को सात्विक, यामल को राजसिक और डामर को तामसिक कहा गया है।

गन्धर्व तन्त्र में ईश्वर का वचन है कि मैंने त्रिगुणात्मक तीन प्रकार के तन्त्र कहे हैं। उनमें से कोई तामस हैं, कोई राजस और कोई सात्विक हैं। बुद्धिमान् व्यक्ति सेवनीय को चुन ले। तामस तन्त्र नरक के हेतु हैं, राजस स्वर्ग के और सात्विक तन्त्र मोक्ष के देनेवाले हैं। इन्हें छोड़ चतुर्थ प्रकार के तन्त्र निष्फल हैं—

यदुक्तं ते मया तन्त्रं त्रिविधं त्रिगुणात्मकं ।
तामसं कुत्र सम्प्रोक्तं राजसं चापि कुत्रचित् ॥
सात्विकं तत्र कुत्रापि धीमांस्तस्मात् तदुद्धरेत् ।
तामसं नरकायैव स्वर्गाय राजसं प्रिये ॥
सात्विकं मोक्षदं प्राहुस्तुरीयं निष्कलं शिवे ।

ग० तं०, १।२८-३०

यामल

वाराही-तन्त्र के अनुसार जिस तन्त्र में १ सृष्टि, २ ज्योतिष, ३ नित्य-कृत्य का उपदेश, ४ क्रम, ५ सूत्र, ६ वर्ण-भेद, ७ जाति-भेद और ८ युगधर्म—ये आठ विषय हों, वह 'यामल' है—

सृष्टिश्च ज्योतिषाख्यानं नित्य-कृत्य-प्रदीपनम् ।
क्रम-सूत्रं वर्ण-भेदो जाति-भेदस्तथैव च ॥
युग-धर्मश्च संख्यातो यामलस्याष्ट-लक्षणम् ।

—वाराही तन्त्र (विश्वकोष)

प्राचीन यामलों की संख्या भी आठ ही है। यथा—१ रुद्र, २ स्कन्द, ३ ब्रह्म, ४ विष्णु, ५ यम, ६ वायु, ७ कुबेर और ८ इन्द्र। ब्रह्मयामल की ग्यारहवीं सदी (१०५२ ई०) की एक पाण्डुलिपि नेपाल दरबार के पुस्तकालय में है। उसमें उक्त आठ यामलों को तालिका दी है और लिखा है कि इनके वक्ता १ स्वच्छन्द, २ क्रोध, ३ उन्मत्त, ४ उग्र, ५ कपाली, ६ झंकार, ७ शेखर और ८ विजय—ये आठ भैरव हैं।

सेतुबन्ध में अर्थ-रत्नावली के अनुसार आठ यामलों के नाम ये दिये हैं—१ ब्रह्म, २ विष्णु, ३ रुद्र, ४ लक्ष्मी, ५ उमा, ६ स्कन्द, ७ गणेश और

८ जयद्रथ—

ब्रह्म-यामलं विष्णु-यामलं लक्ष्मी-यामलमुमा-यामलं स्कन्द-यामलं गणेश-यामलं जयद्रथ-यामलं चेत्यष्टावर्थ-रत्नावल्यामुक्तानि ।

--वा० नि०, १।१५-की से० ब०

डामर

वाराही तन्त्र में छः प्रकार के डामरों का उल्लेख करते हुये प्रत्येक की श्लोक-संख्या निम्न प्रकार दी है—१ योग डामर–२३५३३, २ शिव-डामर–११००७, ३ दुर्गा डामर–११५०३, ४ सार-स्वत डामर–६६०५, ५ ब्रह्म-डामर–७१०५ और ६ गांधर्व-डामर–६००६० ।

डामरः षड्-विधो ज्ञेयः प्रथमो योग-डामरः ।
श्लोकास्तत्र त्रय-त्रिंशत तथा पञ्च-शतानि च ।।
त्रि-विंशतिः सहस्राणि श्लोकाश्चैव हि संख्यया ।
एकादश-सहस्राणि संख्याताः शिव-डामरे ।।
श्लोकाः सप्तैव निश्चिता ईश्वरेणैव भाषिताः ।
तावत् श्लोक-सहस्राणि पञ्च-श्लोक-शतानि च ।
गुणोत्तराणि दुर्गाया डामरे कथितानि च ।
नव-श्लोक-सहस्राणि नव-श्लोक-शतानि च ।।
सारस्वते तथा श्लोकाः पञ्चैव परिकीर्तिताः ।
शर-संख्या-सहस्राणि श्लोकानां ब्रह्म-डामरे ।।
पञ्चोत्तर-शतान्यत्र संख्यानि शिवेन तु ।
षष्टिः श्लोक-सहस्राणि गान्धर्वे डामरोत्तमे ।।
श्लोकाश्च षष्टि-संख्याता ब्रह्मणाऽव्यक्त-योनिना ।

–वाराही तन्त्र (वाचस्पत्यभिधान)

तन्त्र के अन्य प्रकार विभाग

समस्त तन्त्रशास्त्र को पाँच आम्नायों के अन्तर्गत विभक्त किया गया है। 'आम्नाय' शब्द के अर्थ हैं श्रुति, स्त्री और वेद । मुख्य अर्थ है वेद। रामेश्वर ने लिखा है कि यद्यपि 'आम्नाय' शब्द का मुख्यार्थ वेद है, तथापि तन्त्र वेद का सार होने से 'आम्नाय' शब्द का अर्थ तन्त्र भी है–

'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः'—इति कोशात । तथापि आम्नाय-सार-प्रतिपादकत्वात् अत्रापि आम्नाय-शब्द उपचर्यते ।

--प० क० सू०, १।२ की वृत्ति

पञ्चाम्नाय

शिव के पाँच मुखों से पाँच आम्नायों का उद्भव बताया गया है। कुलार्णव तन्त्र में शिव कहते हैं कि मेरे पञ्च-मुखों से पाँच आम्नाय निकले हैं। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और ऊर्ध्वाम्नाय इन पाँच आम्नायों को मोक्ष-मार्ग कहा है—

मम पञ्च-मुखेभ्यश्च पञ्चाम्नाया समुद्गताः ।
पूर्वश्च पश्चिमश्चैव दक्षिणश्चोत्तरस्तथा ।।
ऊर्ध्वाम्नायश्च पञ्चैते मोक्ष-मार्गाः प्रकीर्तिताः ।

शिव के पञ्च-मुख

शिव के पञ्च-मुखों के नाम हैं—१ सद्योजात, २ वामदेव, ३ अघोर, ४ तत्पुरुष और ५ ईशान। सद्योजात मुख शुद्ध स्फटिक के समान शुक्ल-वर्ण; वामदेव पीतवर्ण, सौम्य और मनोहर; अघोर कृष्ण-वर्ण भयङ्कर; तत्पुरुष रक्त-वर्ण, दिव्य और मनोहर तथा ईशान श्याम-वर्ण सर्व-देव-शिवात्मक है—

विभाव्य मुख-पञ्च हि शिवस्य वर-वर्णिनि ।
सद्योजातं वामदेवमघोरं च ततः परम् ।।
तत्पुरुषं तथेशानं पञ्च-वक्त्रं प्रकीर्तितम् ।
सद्योजातं वै शुक्लं शुद्ध-स्फटिक-सन्निभम् ।
पीत-वर्णं तथा सौम्यं वामदेवं मनोहरम् ।
कृष्णवर्णमघोरं च समं भीम-विवर्द्धनम् ।।
रक्तं तत्पुरुषं देवि दिव्य-मूर्ति-मनोहरम् ।
श्यामलं च तथेशानं सर्व-देव-शिवात्मकम् ।।

--निर्वाण-तन्त्र, (प्रा० तो०, काण्ड १, परि० ६)

निर्वाण-तन्त्र के अनुसार सद्योजात-मुख पश्चिम में है। इससे पश्चिमाम्नाय का उद्भव हुआ। वामदेव उत्तर में है। इससे उत्तमाम्नाय का उद्भव हुआ। अघोर दक्षिण में है । इससे दक्षिणाम्नाय का उद्भव हुआ। तत्पुरुष पूर्व में है। इससे पूर्वाम्नाय का उद्भव हुआ और ईशान मध्य में है, जिससे ऊर्ध्वाम्नाय का उद्भव हुआ—

चिन्तयेत् पश्चिमे चाद्यं द्वितीयं च तथोत्तरे ।
अघोरं दक्षिणे देवं पूर्वे तत्पुरुषं तथा ॥
ईशानं मध्यतो ज्ञेयं चिन्तयेद् भक्ति-तत्परः ।
--प्रा० तो०, कांड ३, परि० ६

पूर्व और पश्चिम मुख के सम्बन्ध में मतभेद है। पूर्व-मुख को सद्योजात और पश्चिम-मुख को तत्पुरुष भी कहा जाता है। इस मत के अनसार सद्योजात मुख से पूर्वाम्नाय और तत्पुरुष-मुख से पश्चिमाम्नाय का उद्भव हुआ।

—कौ० र०, पृ० १२२

भावानुसार आम्नाय

कौन आम्नाय किस भाव के साधक के लिये उपयोगी है, इसका निर्देश निरुत्तर तन्त्र में मिलता है कि पूर्वाम्नाय और दक्षिणाम्नाय में निर्दिष्ट कर्म पाशव अर्थात् पशु-भाव के साधक के लिये उपयोगी हैं। पश्चिमाम्नाय में कथित कर्म पशु और वीर दोनों भावों के साधकों के लिये, उत्तराम्नायोक्त कर्म दिव्य और वीर-भाव के साधकों के लिये तथा ऊर्ध्वाम्नाय में कथित कर्म दिव्यभाव के साधक के लिये उपयोगी हैं--

पूर्वाम्नायोदितं कर्म पाशवं कथितं प्रिये ।
यदुक्तं दक्षिणाम्नाये तदेव पाशवं स्मृतम ॥
पश्चिमाम्नायजं कर्म पशु-वीर-समाश्रितम् ।
उत्तराम्नायजं कर्म दिव्य-वीराश्रितं प्रिये ॥
ऊर्ध्वाम्नायोदितं कर्म दिव्य-भावाश्रितं प्रिये ।
--निरुत्तर तन्त्र (प्रा० तो०, काण्ड १, परि ६)

पञ्च-मुखोद्भूत प्रधान तन्त्र

शिव के पञ्चमुखों से अट्ठाइस शैवागम निकले हैं। सद्योजात-मुख से कामिकादि पञ्च आगम या संहिता, वामदेव-मुख से दीप्त्यादि पञ्च संहिता, अघोर-मुख से विजयादि पञ्च संहिता, तत्पुरुष-मुख से रौरवादि पञ्च संहिता और ईशान-मुख से प्रोद्गीतादि अष्ट संहिताओं का उद्भव हुआ है। यह आगम या संहिता-समूह ऊर्ध्व-स्रोतोत्पन्न है। इसके अतिरिक्त शिव के नाभि के अधोभाग से अधः-स्रोतोत्पन्न अन्य सब तन्त्र हैं—

सद्योजात-मुखाज्जाताः पञ्चाद्याः कामिकादयः ।
वामदेव-मुखाज्जाता दीप्ताद्याः पञ्च-संहिताः ॥
अघोर-वक्त्रादुद्भूताः पञ्चाप्ति-विजयादयः ।
पुं-वक्त्रादपि सम्भूताः पञ्च-वैरोचनादयः ॥
ईशान-वदनाज्जाताः प्रोद्गीताद्यष्ट-संहिताः ।
ऊर्ध्व-स्रोतोद्भवा एते नाभ्यधः स्रोतसे परे ॥
—देवी-भागवत व स्कन्द पुराण (ल० स० ११८ सौ० भा०, पृष्ठ ८४)

श्री कुमार ने तत्व-प्रकाश (११५) की टीका में उक्त आगम या संहिता-समूह के नाम दिए हैं। यथा—१ कामिक, २ योग, ३ चिन्त्य, ४ कारण, ५ अजित, ६ दीप्त, ७ सूक्ष्म, ८ सहस्र, ९ अंशुमान्, १० सुप्रभेद, ११ विजय, १२ निःश्वास, १३ स्वायम्भुव, १४ पर, १५ वीर, १६ रौरव, १७ मुकुट, १८ विमल, १९ चन्द्र-ज्ञान, २० बिम्ब, २१ प्रोद्गीत, २२ ललित, २३ सिद्ध, २४ सन्तान, २५ सर्वोक्त, २६ पारमेश्वर, २७ किरण और २८ वातुल। इन २८ आगमों के अनेक उप-भेद हैं —

कामिकं योगजं चिन्त्यं कारणं त्वजितं परम् ।
दीप्तं सूक्ष्मं सहस्रं च अंशुमान् सुप्रभेदकम् ॥
विजयं चैव निःश्वासं स्वायम्भुवमतः परम् ।
वीरं च रौरवं चैव मुकुटं विमलं तथा ॥
चन्द्र-ज्ञानं च विम्बं च प्रोद्गीतं ललितं तथा ।
सिद्धं सन्तानं सर्वोक्तं पारमेश्वरमेव च ॥
किरणं वातुलं चैव त्वष्टाविंशति संहिताः ।
मूलं-भेदमिति ख्यातमसंख्यमुप-भेदकम् ॥
--कौ० र०, पृष्ठ ८२-८३, पाद-टीका

पञ्चाम्नाय आगम

कामिक से अजित तक पश्चिमाम्नाय या मतान्तर से पूर्वाम्नाय आगम हैं। दीप्त से सुप्रभेद तक उत्तराम्नाय आगम, विजय से वीर तक दक्षिणाम्नाय आगम, रौरव से बिम्ब पर्यन्त पूर्वाम्नाय या मतान्तर से पश्चिमाम्नाय आगम हैं। प्रोद्गीत से वातुल तक ऊर्ध्वाम्नाय आगम हैं।

षडाम्नाय

शक्तिसङ्गमादि तन्त्रों के अनुसार आम्नायों की संख्या छः है। यथा—१ पूर्व, २ दक्षिण, ३ पश्चिम, ४ उत्तर, ५ ऊर्ध्व और ६ पाताल या अधः।

—१ श० स० तं०, सु० ख०, ३। १८२-१८७

२ प्रा० तो, काण्ड १, परि० ६

समयाचार तन्त्र के अनुसार ऊर्ध्वाम्नाय और अधः आम्नाय शुद्ध मोक्ष-प्रदायक हैं तथा अन्य आम्नाय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-दायक हैं—

ऊर्ध्वाम्नायो अधश्चैव केवलं मोक्षदो भवेत्।
धर्मार्थ-काम-मोक्षार्थे आम्नायान्ये प्रकीर्तिताः॥

आम्नाय केवल पाँच या छः ही नहीं हैं। वे बहुसंख्यक हैं। कुलार्णव तन्त्र में कहा है कि आम्नाय बहुत हैं किन्तु वे सब ऊर्ध्वाम्नाय के समान नहीं हैं—

आम्नायो बहव सन्ति नोर्ध्वाम्नायस्य ते समाः।

—कु० त०, ३।८

आम्नाय-भेद में विभिन्न देवता

विभिन्न आम्नाय के देवता और मन्त्र विभिन्न हैं। समयाचार तन्त्र में कहा है कि श्रीविद्या एवं उसके विभिन्न भेद, तारा, त्रिपुरा, भुवनेशी और अन्नपूर्णा पूर्वाम्नाय में कही गई हैं। बगलामुखी, वशिनी (बाल भैरवी), त्वरिता, धनदा, महिषघ्नी और महालक्ष्मी दक्षिणाम्नाय में वर्णित हैं। कालिका और उसके विभिन्न भेद, तारा और उसके विभिन्न भेद, मातङ्गी, भैरवी, छिन्ना, धूमावती उत्तराम्नाय में कही गई हैं। कलियुग में ये सब शीघ्र फलदायिनी हैं। ऊर्ध्वाम्नाय में परा एवं प्रसाद मन्त्र वर्णित हैं और अधः आम्नाय में वागीश्वरादि देवता कहे गये हैं—

श्रीविद्या भेद-सहिता तारा च त्रिपुरा तथा।
भुवनेशी चान्नपूर्णा पूर्वाम्नाये प्रकीर्तिता॥
बगलामुखी च वशिनी त्वरिता धनदा तथा।
महिषघ्नो महालक्ष्मीर्दक्षिणाम्नाये कीर्तिताः॥
महा-सरस्वती विद्या तथा वाग्वादिनी परा।
प्रत्यङ्गिरा भवानी च पश्चिमाम्नाये कीर्तिताः॥
कालिका भेद सहिता तारा भेदैश्च संयुता।
मातङ्गी भैरवी छिन्ना तथा धूमावती परा॥
उत्तराम्नाय-कथिताः कलौ शीघ्र-फल-प्रदाः।
परा प्रसाद-मन्त्रश्च ऊर्ध्वाम्नाये प्रकीर्तितः॥
वागीश्वरादयो देवा अध आम्नाय कीर्तिताः।

—समयाचार तन्त्र (प्रा० तो०, काण्ड १, परि ६)

इस विषय में भी मतभेद है। तन्त्र-रहस्य में उद्धृत देव्यागम-वचन के अनुसार पूर्वाम्नाय में श्रीभुवनेश्वरी, त्रिपुटा, ललिता, पद्मा, शूलिनी, सरस्वती, त्वरिता, नित्या, वज्र-प्रस्तरिणी, अन्नपूर्णा, महालक्ष्मी, लक्ष्मी, वाग्वादिनी के मन्त्रों और पूजानुष्ठानादि का वर्णन है। अन्य आम्नाय के मन्त्रादि देवता का विवरण इस प्रकार है—दक्षिणाम्नाय में प्रसाद सदाशिव, महा-प्रसाद मन्त्र, दक्षिणामूर्ति, वटुक, मंजुघोष, भैरव, मृत-सञ्जीवनी विद्या और मृत्युञ्जय। पश्चिमाम्नाय में गोपाल, कृष्ण, नारायण, वासुदेव, नृसिंह, वामन, बराह, रामचन्द्र, विष्णु, हरिहर, गणेश, अग्नि, यम, सूर्य, विधु, अन्यान्य ग्रह, गरुड़, दिक्पाल-गण, हनुमान और अन्यान्य सुर-गण। उत्तराम्नाय में दक्षिण कालिका, महाकाली, गुह्यकाली, श्मशान काली, भद्रकाली, एकजटा, उग्रतारा, तारिणी, कात्यायनी, छिन्नमस्ता, नील सरस्वती, दुर्गा, जय-दुर्गा, नवदुर्गा, वाशुली, धूमावती, विशालाक्षी, गौरी, बगलामुखी, प्रत्यङ्गिरा, मातङ्गी और महिष-मर्दिनी। ऊर्ध्वाम्नाय में श्रीमत्-त्रिपुरसुन्दरी, त्रिपुरेशी-भैरवी, त्रिपुरभैरवी, श्मशान-भैरवी, भुवनेश्वरी-भैरवी, षटकूट भैरवी, अन्नपूर्णा भैरवी, पञ्चमी, षोडशी, मालिनी और बलाबला। अधः आम्नाय में देवता-स्थान, आसन, यन्त्र, माला, नैवेद्य, बलिदान, साधना, पुरश्चरण और मन्त्र-सिद्धि का वर्णन है।

सम्प्रदायानुसार तन्त्र के विभाग

शाक्तों के चार प्रधान सम्प्रदाय हैं—१ केरल, २ काश्मीर, ३ गौड़ और ४ विलास।

इन चारों के अनुसार तन्त्रों को भी चार श्रेणियाँ कही गई हैं। सम्मोहन तन्त्र के अनुसार अङ्गदेश से मालव तक केरल श्रेणी के तन्त्र प्रचलित हैं, मद्र-देश से नेपाल तक काश्मीर-श्रेणी के, शोलहट्ट (श्रीहट्ट) से समुद्र तक गौड़ श्रेणी के और विलास श्रेणी के तन्त्र सर्वत्र प्रचलित हैं।

भौगोलिक संस्थान के अनुसार तन्त्र-विभाग

तन्त्रशास्त्र में तीन भौगोलिक विभागों का निर्देश है—१ विष्णुक्रान्ता, २ रथक्रान्ता और ३ अश्वक्रान्ता या गज-क्रान्ता। शक्ति-संगम तन्त्र के अनुसार विन्ध्य-पर्वत से चट्टल-पर्यन्त विष्णुक्रान्ता, विन्ध्य-पर्वत से महाचीन-पर्यन्त रथक्रान्ता और विन्ध्य-पर्वत से महा-समुद्र पर्यन्त अश्वक्रान्ता विस्तृत है। महा-सिद्धसार तन्त्र में विष्णुक्रान्ता और रथ-क्रान्ता सम्बन्ध में एक ही अभिमत दिया है किन्तु अश्वक्रान्त की सीमा करतोया नदी (जिला दिनाज-पुर) से यव-द्वीप तक निर्दिष्ट की गई है। इन्हीं तीन विभागों के अनुसार तन्त्र के भी तीन श्रेणी-विभाग किये गये हैं। इनमें से प्रत्येक श्रेणी के चौंसठ तन्त्र हैं।

स्रोत अनुसार तन्त्र के विभाग

ब्रह्मयामल के अनुसार दक्षिण, वाम और मध्यम तीन स्रोत हैं। दक्षिण स्रोत सत्व-गुण-प्रधान, वाम-स्रोत रजोगुण-प्रधान और मध्यम स्रोत तमो-गुण-प्रधान है। दक्षिण स्रोत शुद्ध, वाम स्रोत मिश्र और मध्यम स्रोत अशुद्ध है। दक्षिण स्रोत के तन्त्र योगिनी जाल, योगिनी हृदय, मन्त्र-मालिनी, अघोरेशी, अघोरेश्वरी, क्रीड़ा-घोरेश्वरी, लाकिनी-कल्प, मारिची, महा-मारिची और उग्र विद्या-गण हैं।

मध्यम स्रोत के तन्त्र—विजय, निःश्वास, स्वाय-म्भुव, वातुल, वीर-भद्र, रौरव, माकुट और वीरेश।

ब्रह्म-यामल में चन्द्रज्ञान, बिम्ब, प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, सन्तान, सर्वोद्गीत, किरण और पारमेश्वर को उच्च श्रेणी के तन्त्र बताया गया है। वाम-स्रोत के तन्त्रों का पृथक् उल्लेख नहीं है।

विभिन्न प्रकार के बहु तन्त्र

वामकेश्वर तन्त्र में देवी शिव से कहती हैं कि महामायादि ज्ञान-मय चौंसठ तन्त्र एवं इसी प्रकार के बहुत से अन्यान्य तन्त्र आपने मुझसे कहे हैं—

एवमेतानि शास्त्राणि तथाऽन्यान्यपि कोटिशः।
भवतोक्तानि मे देव! सर्व-ज्ञान-मयानि च॥
—वा०, नि० १।२२

यहाँ 'कोटि' शब्द-बहुसंख्या का बोधक है।

इन बहुसंख्यक तन्त्रों के उद्भव के सम्बन्ध में शिव का वचन है कि मुझसे जब-जब जिस प्रकार के प्रश्न पूछे गये, उनके समाधान के लिये तब-तब मैंने उत्तर दिया है। इस वचन का आशय यह है कि विभिन्न अधिकारियों के लिये विभिन्न तन्त्रों का उपदेश हुआ है—

यथा यथा कृताः प्रश्ना येन येन यदा यदा।
तदा तस्योपकाराय तथैवोक्तं मया प्रिये॥
—महा० त०, २।२६

तन्त्र और वेद

तन्त्र की दो श्रेणियाँ वैदिक और अवैदिक मानी गई हैं। वैदिक तन्त्र को वेद या वेद की शाखा-विशेष समझा जाता है। भास्करराय ने सेतुबन्ध में महामायादि चौंसठ तन्त्रों को वेद-तुल्य कहा है क्योंकि उनके मत से तन्त्र उपनिषदों के शेष-भूत हैं—

एतानि महामायादि-विशुद्धेश्वरान्तानि चतुः-षष्टिस्तन्त्राणि। शास्त्राणि वेद-रूपाणि। तन्त्राना-मुपनिषच्छेषत्वात्। शासनाच्छास्त्रमिति व्युत्पत्तिः। शासनं तु प्रवर्तनानि वर्तनान्यतर-रूपा शब्द-भावना-पर-पर्याया। भगवत्याञ्चैव। तदुक्तं—प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा। पुंसां येनोपदिश्यते तच्छास्त्रमभिधीयते। इति। तेन वेद एव मुख्यतया 'शास्त्र'-पद-वाच्यः तथा च व्यास-पादानां प्रयोगः—शास्त्र-योनित्वात् शास्त्र-दृष्ट्या तूपदेशो वामदेव-वदि-

त्यादि: । शब्द-शास्त्र-छन्द:-शास्त्रादीनां तु तदङ्गत्वान्मानव-स्मृत्यादीनां तदर्थानुवादकत्वात्तद्-व्याख्यानानामनार्षाणामपि तदुपयोगित्वाच्छास्त्र-पदेन व्यवहार इति स्थिति: । तन्त्राणां तु साक्षादेव वेदवत् भगवदाज्ञा-रूपत्वाच्छास्त्रत्वे न कोऽपि विवाद: । अतएव प्रामाण्येऽपि न विप्रतिपत्ति: ।

—वा० नि०, १।२२ की से० ब०

अर्थात् तन्त्र शास्त्र हैं। 'शास्त्र'-शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार अर्थ है जो शासन करे, वही शास्त्र। शासन का अर्थ है भगवती की आज्ञा— प्रवर्तन-निवर्तन रूप शब्द-भावना।

इस सम्बन्ध में भामती में कहा है कि नित्य अर्थात् वेद एवं कृतक अर्थात् पुरुष-प्रणीत स्मृति आदि द्वारा लोगों को प्रवृत्ति या निवृत्ति के विषय में जो उपदेश दिया गया है, उसी को शास्त्र कहते हैं।

——ल० स० २०६ की सौ० भा०

मुख्यत: वेद ही 'शास्त्र'-शब्द से वाच्य हैं। व्यासदेव ने भी 'शास्त्र-योनित्वात्' (ब्र० सू० १।१।३) 'शास्त्र-दृष्टया तूपदेशो वामदेव-वत्' (ब्र० सू० १।१।३०) इत्यादि सूत्रों से वेद के ही अर्थ में 'शास्त्र'-शब्द का प्रयोग किया है। छन्द-शास्त्र और शब्द-शास्त्रादि वेदाङ्ग ही हैं, मनुस्मृति आदि वेदार्थ की अनुवादक हैं और ये सब व्याख्यान-ग्रन्थ अनार्ष होते हुये भी अपनी उपयोगिता के कारण 'शास्त्र'-शब्द से वाच्य हैं। तन्त्र भी वेद के समान साक्षाद् भगवद्-वाक्य हैं। अत: तन्त्र के शास्त्र होने में कोई विवाद नहीं है। फलत: तन्त्र के प्रामाण्य होने के सम्बन्ध में भी कोई विरोध नहीं है।

तन्त्र वेदमूलक प्रामाण्य-शास्त्र है, इसका प्रतिपादन करते हुये भास्कर राय ने अन्यत्र कहा है कि वेद में पूर्व-काण्ड के शेष-भूत-रूप में आश्वलायनादि कल्प-सूत्रों एवं मन्वादि स्मृतियों की, उपनिषत्-काण्ड के शेष-रूप में परशुरामादि कल्प सूत्र एवं यामलादि तन्त्रों की और दोनों काण्डों के शेष-भूत-रूप में पुराण-समूह की प्रवृत्ति है। अतएव स्मृति, तन्त्र और पुराण वेद-मूलक होने से प्रामाण्य हैं—

वेदे च पूर्व-काण्डस्य शेष-भूत-तया आश्वलायनादि-कल्पसूत्राणां मन्वादि-स्मृतीनां च प्रवृत्तिवदुपनिषत्-काण्ड-शेषत्वेन परशुरामादि-कल्पसूत्राणां च प्रवृत्ति: । पुराणानां तु काण्ड-द्वयं प्रत्यपि शेषत्वेन प्रवृत्ति: । ततश्च स्मृति-तन्त्र-पुराणानां वेद-मूलकत्वेनैव प्रामाण्यम् ।

——वा० नि०, से० ब०, पृ० ४

राघव भट्ट ने भी आगम अर्थात् तन्त्र को वेद के उपासना-काण्ड के अन्तर्गत माना है। उनके अनुसार श्रुति के तीन काण्ड हैं——१ कर्मकाण्ड, २ उपासना-काण्ड और ३ ब्रह्म-काण्ड। इनमें से उपासना-काण्ड आगम-शास्त्रात्मक है——

तन्त्र सर्वासु श्रुतिषु काण्ड-त्रयं कर्मोपासना ब्रह्म-भेदेन ।···अत एतदुपासना-काण्डमेवागम-शास्त्रात्मकं गरीय इति सिद्धम् ।

—शा० ति०, १।१ की टीका

तथापि कौल लोग कुल-शास्त्र अर्थात् कुल-तन्त्रों को वेदात्मक ही मानते हैं——

तस्माद् वेदात्मकं शास्त्रं विद्धि कुलात्मकं प्रिये ।

—कु० त०, २।८५

वेद-बाह्य तन्त्र भी प्रामाण्य शास्त्र

वेद-बाह्य तन्त्र भी अशास्त्र या अप्रामाण्य नहीं हैं। जिन तन्त्रों में वेद-भिन्न अन्य साधन-मार्गों का विवरण दिया है, वे भी प्रामाण्य शास्त्र हैं। स्कन्द पुराण के अन्तर्गत सूत-संहिता के यज्ञ-वैभव खण्ड के २२ वें अध्याय में कहा है कि वेद-भिन्न अन्य मार्गों का मुक्ति-विषय को छोड़कर अन्य विषयों में प्रामाण्य है, मुक्ति-विषय में उनका प्रामाण्य नहीं है। ये सब मार्ग भी क्रमश: वेद-मार्ग की प्राप्ति कराते हैं और उसके द्वारा मुक्ति प्रशस्त करते हैं, इस प्रकार मुक्ति-विषय में भी इनकी प्रामाणिकता है, ऐसा नहीं है। वेदान्त द्वारा प्रतिपादित शिव

साक्षात् मुक्ति-दाता है। वे शीघ्र ही मुक्ति प्रदान करते हैं। आगमान्तर द्वारा प्रतिपादित शिव साक्षात् मुक्ति नहीं देते, अपितु उत्तरोत्तर विशिष्ट मार्गों से ले जाकर क्रमशः मुक्ति देते हैं।

अतएव वेद-मार्गी अन्य मार्ग नहीं स्वीकार करते। वेद-मार्गी साधक के लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं है। वेद का अनुसरण करने से परम मोक्ष और समस्त भोग प्राप्त होते हैं। अधिकारी-भेद से सभी मार्ग प्रामाण्य हैं, इसमें सन्देह नहीं। ऐसी दशा में ईश्वर के स्वरूप, बन्धन के हेतु, जगत् के कारण, मुक्ति, ज्ञान आदि विषयों के सम्बन्ध में जिन मार्गों में परस्पर विरोध है और वेदान्त अर्थात् उपनिषद् से जिनका विरोध है, उन सबको प्रामाण्य कैसे माना जाय? इसका उत्तर यह है कि उक्त मार्गों के वेदान्त-विरुद्ध अंश वस्तुतः महा-मोह से ग्रस्त अर्थात् अनादि माया से मोहित अल्प-बुद्धि व्यक्तियों के सन्तोष के लिये निर्दिष्ट हुये हैं। वे परमार्थ-रूप नहीं हैं। जिस प्रकार दौड़ती हुई गाय को घास का गुच्छा दिखाकर लोग पकड़ लेते हैं, उसी प्रकार महेश्वर पहले विभिन्न मार्गों के अनुयायियों को उन-उन मार्गों के अनुरूप क्षुद्र इष्ट प्रदान करते हैं और उन मार्गों में कथित ज्ञान द्वारा उनके पापों का क्षय होने पर उनकी बुद्धि का जैसा परिपाक होता है, तदनुसार परम-पुरुषार्थ-भूत उत्तम ज्ञान प्रदान करते हैं। ये सभी मार्ग शिवोक्त हैं, अतः प्रामाण्य हैं। शिव-वाणी मिथ्या नहीं होती—

तस्मान्मार्गान्तराणां तु प्रामाण्यं वेद-वित्तमाः।
मुक्तेरन्यत्र नात्रैव क्रमेणैवात्र मानता॥
अतो वेदान्त-मार्गस्थो महादेवोऽचिरेण तु।
मुक्तिं ददाति परमां मुक्ति इत्येष शाश्वती श्रुतिः
अतो वेद-स्थितो मर्त्यो नान्य-मार्गं समाश्रयेत्॥
अतो अधिकारि-भेदेन मार्गा मानं न संशयः।
ईश्वरस्य स्वरूपे च बन्ध-हेतौ तथैव च।
जगतः कारणे मुक्तौ ज्ञानादौ च तथैव च।
मार्गाणां ये विरुद्धांशा वेदान्तेन विचक्षणाः॥
तेऽपि मन्द-मतीनां च महा-महोवृतात्मनाम्।
वांच्छा-मात्रानुगुण्येन प्रवृत्ता न यथार्थतः॥
दर्शयित्वा तृणं मर्त्यो धावन्तीं गां यथाऽगृहीत्।
दर्शयित्वा तथा क्षुद्रमिष्टं पूर्वं महेश्वरः॥
पश्चात् पाकानुगुण्येन ददाति ज्ञानमुत्तमम्।
तस्मादुक्तेन मार्गेन शिवेन कथिता अमी॥
मार्गा मानं न चामानं मृषा वादी कथं शिवः।

—प० क० सू० १।१ की रामेश्वर कृत वृत्ति

स्पष्ट है कि वेद-बाह्य तन्त्रादि भी प्रामाण्य शास्त्र हैं।

तन्त्र वेद-भ्रष्टों के लिए

सूत-संहिता के मुक्ति-खण्ड में शिव कहते हैं कि वेद-मार्ग से भ्रष्ट अत्यन्त मलिन व्यक्तियों के लिए पाञ्चरात्रादि मार्ग निर्दिष्ट किए गए हैं। ये सब समय पर ही उनका हित साधन करते हैं। तांत्रिक लोग मुझे शीघ्र नहीं पा सकते, देवताओं की प्राप्ति रूपी मार्ग से समय व्यतीत होने पर ही मुझे पा सकते हैं किन्तु वेद-निष्ठ व्यक्ति मुझे शीघ्र ही पा लेते हैं—

अत्यन्त-मलिनानां तु भ्रष्टानां वेद-मार्गतः।
पाञ्चरात्रादयो मार्गाः कालेनैवोपकारकाः॥
तान्त्रिकाणामहं देवि न लभ्योऽव्यवधानतः।
कालेन देवता-प्राप्तिद्वारेणैवाहमास्तिके॥
लभ्यो वेदैक-निष्ठानामहमव्यवधानतः।

—कौ० र०, पृ० ६१

अगस्त्य संहिता में भी कहा है कि पाञ्चरात्र, कापाल एवं कालामुख तन्त्र में वैदिकों का अधिकार नहीं है—

पाञ्चरात्रे च कपाले तथा कालामुखे च।
अधिकारो वैदिकानां नास्ति नास्ति मुनीश्वराः॥

—कौ० र०, पृ० १०५

वैदिक तान्त्रिकों के मत से सूत-संहिता का मन्तव्य पाञ्चरात्रादि अवैदिक तन्त्रों के सम्बन्ध में लागू होता है, सभी तन्त्रों के सम्बन्ध में नहीं। भास्कर राय ने लिखा है कि पाशुपत-विशेष एवं पाञ्चरात्र-विशेषादि जो तन्त्र सर्वांश में वेद-विरुद्ध हैं, वे सब तन्त्र श्रीविद्या की उपासना के सम्बन्ध में

वेद-मूलक भूमिका पर आरूढ़ व्यक्तियों के लिए उपयोगी नहीं हैं। पाप-कर्मों के कारण जो श्रौत-स्मार्त कर्मों के अधिकार से च्युत हो जाते हैं, उन्हीं व्यक्तियों का इन सब तन्त्रों में अधिकार है। इसी से कहा गया है कि पाञ्चरात्र, भागवत और वैखानस नामक शास्त्र वेद-भ्रष्ट लोगों के लिए कमला-पति अर्थात् विष्णु ने कहे हैं। वेदोक्त प्रायश्चित्त के भय से पीड़ित वेद-भ्रष्ट व्यक्ति वेदाधिकार-प्राप्ति के लिए तन्त्र का आश्रय लेते हैं। इस उक्ति में आए 'तन्त्र'—शब्द से पूर्वोक्त विशेष तन्त्र का आशय है। ब्रह्म-सूत्र के 'पत्युरसामञ्जस्यात्' (२।२।३७) इस सूत्र का भी उक्त तन्त्र के सम्बन्ध में प्रयोग हुआ है। किन्तु राम, कृष्ण, नृसिंह, रुद्र, परशिव, सुन्दरी आदि की उपासना की बोधक अगस्त्यादि संहिता, मूल रामतापनी आदि उपनिषत् प्रत्यक्ष हैं, उनके लिए इन सब तन्त्रों की अप्रामाण्य-शङ्का नहीं है—

यानि तु सर्वांशेनापि वेद-विरुद्धान्येव कानिचित्तन्त्राणि पाशुपत-विशेष-पाञ्चरात्र-विशेषादीनि तानि नेदृशीं भूमिकामारूढ़स्य। अपि तु श्रौत-स्मार्त-कर्म-भूमिकाधिकारिण एव केनचित् पापेन ततश्च्युतो तेष्वधिकारः। अतएव पाञ्चरात्रं भागवतं तथा वखानसाभिधं। वेद-भ्रष्टान् समुद्दिश्य कमलापतिरुक्तवान्। इत्यादिना कतिपयानामेव परिगणनमुपपद्यते। तेन—श्रुति-भ्रष्टः श्रुति-प्रोक्त-प्रायश्चित्ते भयं गतः। क्रमेण श्रुति-सिद्ध्यर्थं मनुष्यस्तन्त्रमाश्रयेत्। इत्यत्र तन्त्र-सामान्य-पदं तादृश-विशेषपरं। पत्युरसामञ्जस्यादित्यधिकरणमपि तादृश-तन्त्र-परमेव। यानि तु राम-कृष्ण-नृसिंह-रुद्र-परशिव-सुन्दर्याद्युपासन-बोधकान्यगस्त्यादि - तन्त्राणि तन्मूल-भूतानां रामतापन्याद्युपनिषदां प्रत्यक्षत्वादेव तेषां नाप्रामाण्य-शङ्का-कलङ्कावकाशः।—वा० नि०, से० ब०, पृ० ४-५

स्पष्ट है कि जो वेद-भ्रष्ट हैं या वेद के जो अनधिकारी हैं, उनके लिए तन्त्र-शास्त्र विहित है, यह मत साधारण भाव में स्वीकृत नहीं है। जो वेद-मार्गी हैं, उनके लिए भी तन्त्र विहित हैं। श्रीमद्भागवत में उद्धव को भगवान् उपदेश करते हैं कि उभय-सिद्धि के लिए अर्थात् वेद-तन्त्रोक्त भुक्ति-मुक्ति की प्राप्ति के लिए उभय शास्त्रानुसार मेरी उपासना करो—

उभाभ्यां वेद-तन्त्राभ्यां च्ह्यं तूभय-सिद्धये।
—श्रीमद्भागवत ११।२७।२८

और भी कहा है कि वैदिक एवं तान्त्रिक इन दोनों ही क्रिया-योग के मार्ग से मेरी अर्चना कर इहलौकिक और पारलौकिक अभीष्ट सिद्धि लाभ करो—

एवं क्रिया-योग-पथैः पुमान् वैदिक-तान्त्रिकैः।
अर्चन्नूभयतः सिद्धिं मत्तो विन्दत्यभीप्सिताम्॥
—११।२७।४९

वेदानुयायी द्विज-वर्ण को ही वैदिक गायत्री के जप का अधिकार है। अतः गायत्री-तन्त्रादि के मत से तन्त्रशास्त्र वेदानुयायियों के लिए भी विहित है।

वेद और तन्त्र का पार्थक्य

तन्त्र वेद-मूलक हो या वेद-बाह्य, तन्त्रशास्त्र के पृथक् अस्तित्व को कोई अस्वीकार नहीं करता। पूर्वोक्त श्रीमद्भागवतादि के वचनों में भी इसे लक्ष्य किया जा सकता है। वेद और तन्त्र के मध्य पृथकता भी बहुत है। दोनों का गन्तव्य एक होते हुए भी पथ भिन्न हैं।

तन्त्रज्ञों के अनुसार वेदानुयायी साधक अपनी साधना में 'तत्वमसि' आदि महावाक्यों के लक्ष्य जीव-ब्रह्म में अभेद-ज्ञान प्राप्त करते हुए इस ब्रह्माण्ड को उसी ब्रह्म की विभूति-रूप में दर्शन करने का प्रयास करते हैं और इसी ब्रह्म-ज्ञान को मध्य में रखकर क्रमशः जीव-तत्व को अनुभव करते हैं। इस प्रकार वेद-मार्गी साधक सिद्धावस्था प्राप्त करने के बाद संसार में ब्रह्म की विभूति का दर्शन करते हैं। दूसरी ओर तांत्रिक साधक साधना के प्रारम्भ से संसार में ही ब्रह्म-विभूति का दर्शन करते-करते संसार का त्याग करते जाते हैं। पूर्वोक्त तत्व-ज्ञान वैदिक मार्ग में साधना का फलस्वरूप है, जब कि तांत्रिक मार्ग में वह मूल एवं फल दोनों स्वरूप है।—त० त०, पृ० ८४, ८५, ८६

अनुष्ठान-गत पार्थक्य

वैदिक और तांत्रिक अनुष्ठान भिन्न हैं। एक ही अनुष्ठान वेदानुयायियों के लिए एक प्रकार का है और तन्त्रानुयायियों के लिए दूसरे प्रकार का। आचमन, सन्ध्या, तर्पण आदि नित्यकर्म जीवसेक ※ या गर्भाधानादि दस संस्कार आदि नैमित्तिक कर्म, विविध प्रकार के काम्य कर्म और पूजा-अर्चा आदि वेदानुयायियों के लिए पुराणादि स्मृति के अनुसार होती हैं। ये तन्त्रानुसार भी होती हैं।

तन्त्र के अनुसार समस्त नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्म तन्त्रशास्त्र के अनुसार ही करना चाहिए——

नित्यानि सर्व-कर्माणि तथा नैमित्तिकानि च।
कामान्यपि वरारोहे कुर्याच्छाम्भव-वर्त्मना ॥

—महा० त०, ८।६

वेदोक्त क्रिया-कर्म की तुलना में तांत्रिक क्रिया-क्रम अपेक्षाकृत संक्षिप्त है। क्योंकि कलि के दुर्बल लोग अधिक परिश्रम में समर्थ नहीं हैं। इसी से तन्त्र में संस्कारादि क्रिया संक्षेप में दी गई है—

कलि-दुर्बल-जीवानां प्रयासाशक्त-चेतसाम्।
सस्कारादि-क्रियास्तेषां संक्षेपेणापि वच्मि ते ॥

—महा० त०, ८।१३

तन्त्र के अनुसार वेदानुयायियों के लिये इन कर्मों का जो विधान है, वह भी शिवोक्त ही है। ब्रह्मा-रूप से शिव ने ही उसे कहा है। पूर्वोक्त कारणवश ही तन्त्र में इन सबका विधान नवीन रूप से दिया गया है—इसी से अनेक स्थलों पर वेदोक्त अनुष्ठान और तन्त्रोक्त अनुष्ठान में एक ही मन्त्र दृष्टिगत होते हैं। शिव ने कहा है कि नित्य-नैमित्तिकादि जिन-जिन कार्यों के जो-जो विधान हैं, वे सब मैंने पहले ब्रह्मा-रूप से कहे हैं। दश-विध संस्कार और अन्य सब कर्मों हेतु ब्राह्मणादि वर्ण-भेद से यथाक्रम मन्त्र भी बताये हैं। सत्य, त्रेता और द्वापर-युग में जिस कर्म का जो मन्त्र है, प्रयोग के समय उसमें प्रणव लगा कर आरम्भ करे। कलियुग के लोगों के लिये शिव का निर्देश है कि उक्त सभी कर्मों में उन्हीं मन्त्रों का प्रयोग करे किन्तु प्रणव के स्थान पर 'ह्रीं' बीज लगाकर आरम्भ करे–

यानि यानि विधानानि येषु च कर्मसु।
पुरैव ब्रह्म-रूपेण तान्युक्तानि मया प्रिये ॥
संस्कारेषु च सर्वेषु तथैवान्येषु कर्मसु।
विप्रादि-वर्ण-भेदेन क्रमान्मन्त्राश्च दर्शिताः ॥
सत्य-त्रेता-द्वापरेषु तत्तत्कर्मसु कालिके।
प्रणवाद्यांस्तु तान् मन्त्रान् प्रयोगेषु नियोजयेत् ॥
कलौ तु परमेशानि तैरेव मनुभिर्नराः।
मायाद्यैः सर्व-कर्माणि कुर्युः शङ्कर-शासनात् ॥

—महा० त०, ८।६-१०

तन्त्र में प्रणव

उक्त कथन से सभी तान्त्रिक मन्त्रों में प्रणव के प्रयोग का निषेध नहीं होता। बहुत से तान्त्रिक मन्त्र प्रणव से ही आरम्भ होते हैं। प्रणव शुद्ध वैदिक मन्त्र है किन्तु तन्त्रशास्त्र ने इसे आत्मसात् कर लिया है। बहुत से तान्त्रिक मन्त्रों का प्रणव अङ्गभूत है। प्रणव की तान्त्रिक व्याख्या भी है। ज्ञान-सङ्कलिनी तन्त्र में कहा है कि 'अ उ म' मिलकर ॐ अर्थात् प्रणव होता है। अकार सात्विक, उकार राजसिक और मकार तामसिक है, तीनों मिलकर प्रकृति-स्वरूप हैं–

अकारः सात्विको ज्ञेय उकारो राजसः स्मृतः।
मकारस्तामसः प्रोक्तस्त्रिभिः प्रकृतिरुच्यते ॥

–ज्ञानसङ्कलिनी तन्त्र, कर्पूरादिस्तोत्र प्रथम श्लोक की विमलानन्ददायिनी स्वरूप व्याख्या में उद्धृत

अर्थात् प्रणव मूल-प्रकृति है। अन्यत्र प्रणव को कुण्डलिनी-स्वरूप शब्द-ब्रह्म बताया है——

तद्-भिद्यमान-विन्दु-रूपां चैतन्यं कुण्डली-स्वरूपं प्रणवाकारं प्राणिनां देह-मध्यगं सत् वर्णात्मनाविर्भवति प्रकाशः–इत्यन्वयः।

—प्रा० तो०, काण्ड १, परि १, पृ० ८

※ जीवसेक, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नाशन, चूडाकरण, उपनयन और उद्वाह–ये दस संस्कार हैं।—महा० त० ८।४

तान्त्रिक गायत्री

सावित्री मन्त्र विशुद्ध गायत्री मन्त्र है। यही प्राचीनतम गायत्री है। तन्त्रशास्त्र ने इसे भी आत्मसात् किया है और इस मन्त्र का तान्त्रिक विधान दिया है। इसके अतिरिक्त समस्त तान्त्रिक गायत्री मन्त्रों का आदर्श यही वैदिक सावित्री मन्त्र है।

तान्त्रिक क्रिया में वैदिक मन्त्र

सनातन-धर्मी नित्य-नैमित्तिकादि बहु क्रिया-कर्म वैदिक और तान्त्रिक दोनों पद्धतियों से सम्पन्न होते देखे जाते हैं। शुद्ध तान्त्रिक क्रिया-कर्म में भी विशुद्ध वैदिक मन्त्रों का प्रयोग दृष्टिगत होता है। पञ्च-तत्वों की शोधन-प्रक्रिया में वेद-मन्त्रों का प्रयोग प्रसिद्ध ही है।

तन्त्र वेद से अभिन्न हैं, वेद के ही रूपान्तर हैं अथवा वेद-मूलक हैं, यह स्वीकार कर लेने से वैदिक मन्त्र का प्रयोग होने से कोई प्रश्न नहीं उठता किन्तु तन्त्र को वेद-बाह्य मानने से प्रश्न उठता है कि तन्त्र में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग क्यों? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि सनातन धर्मी समाज पर वेदों का प्रभाव इतना प्रबल रहा है कि वेद-वर्जित कोई धर्म-कर्म उसके द्वारा स्वीकृत नहीं हो सकता था। तन्त्र में ही कहा है कि 'समस्त क्रियाएँ वेद-मूलक हैं, श्रेष्ठ स्मृति वेद-मूलक है, वेद-रहित कुछ भी द्विज कभी न करे'—

> वेद-मूला: क्रिया: सर्वा वेद-मूला परा स्मृति: ।
> वेदेन रहितं यत्तु तन्न कुर्याद् द्विज: क्वचित् ॥
> —श० सं० तं०, का० खं० ८।३१-३२

द्विज ही समाज का शीर्ष-स्थानीय व्यक्ति है। जो उसके लिये वर्जित है, वह सभी लोगों के लिये वर्जित होना स्वाभाविक है। ऐसी दशा में तान्त्रिक क्रियाओं में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग उन क्रियाओं के गौरव-वर्द्धन हेतु ही है।

पञ्च-तत्त्वों को लेकर जा साधना निर्दिष्ट हुई है, वह कौल-तन्त्र-सम्मत है और कौल-तन्त्र वेद-सम्मत ही हैं किन्तु यहाँ भी तान्त्रिक कर्म में वैदिक मन्त्रों के प्रयोग के सम्बन्ध में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। तन्त्रशास्त्र का मत है कि 'कलियुग में तन्त्रोक्त मन्त्र ही सिद्धि-दायक, शीघ्र फल-प्रद और जप-यज्ञादि कर्म में प्रशस्त हैं। वैदिक मन्त्र-समूह विष-हीन सर्प के समान निर्वीर्य हैं। सत्ययुग में वे सब वैदिक मन्त्र सफल होते थे किन्तु कलियुग में वे मृत समान हैं'—

> कलौ तन्त्रोदिता मन्त्रा: सिद्धास्तूर्ण-फल-प्रदा: ।
> शस्ता: कर्मसु सर्वेषु जप-यज्ञ-क्रियादिषु ॥
> निर्वीर्या: श्रौत-जातीया विष-हीनोरगा इव ।
> सत्यादौ सफला आसन् कलौ ते मृतका इव ॥
> —महा० त०, २।१४-१५

ऐसी दशा में तान्त्रिक क्रियाओं में वैदिक मन्त्रों का प्रयोग किसलिये निर्दिष्ट किया गया है? इस जिज्ञासा के उत्तर में तन्त्र के मर्मज्ञों का कथन है कि तान्त्रिक विधि का निर्देश करते समय महेश्वर-महेश्वरी के श्रीमुख से वैदिक मन्त्र-समूहों की भी पुनरावृत्ति हुई, जिससे वे सब मन्त्र वैदिक होते हुये भी तान्त्रिक मन्त्र हो गये। अत: कलियुग में भी ये मन्त्र फल देनेवाले बन गये।

प्रसङ्गवश यह उल्लेखनीय है कि वैदिक मन्त्र ही तान्त्रिक मन्त्र का आदर्श है। इसी से जिस प्रकार वैदिक मन्त्र के ऋषि, छन्द, देवता और विनियोग निर्दिष्ट हैं, उसी प्रकार तांत्रिक मन्त्र के सम्बन्ध में भी ऋषि, छन्दादि का निर्देश मिलता है। हाँ, तान्त्रिक मन्त्रों के सम्बन्ध में बीज, शक्ति और कीलक ये तीन अतिरिक्त विषय मिलते हैं। उदाहरण के लिये देखें कि 'ॐ क्रव्यादग्नि प्रहिणोमि दूरं यमराज्ञो गच्छतु विप्रवाह:' (ऋ० वे० १०।१६।९)—इस वैदिक मन्त्र के ऋषि प्रजापति, छन्द त्रिष्टुप्, देवता अग्नि और विनियोग अग्नि-संस्कार में है। इसी प्रकार दक्षिण कालिका के मन्त्र के ऋषि भैरव, छन्द उष्णिक्, देवता दक्षिण कालिका, बीज ह्रीं, शक्ति हूं, कीलक क्रीं और विनि-

योग पुरुषार्थ-चतुष्टय की सिद्धि में बताया गया है।

वैदिक याग-यज्ञ की तान्त्रिक क्रिया-कर्म से समानता

तान्त्रिक क्रिया-कर्मों में वैदिक मन्त्र का केवल प्रयोग ही नहीं पाया जाता, किन्तु सामान्य बात यह है कि तान्त्रिक क्रिया-कर्म वस्तुत: वदिक याग-यज्ञ का ही युगोपयोगी रूपान्तर मात्र है क्योंकि दोनों ही प्रकार के अनुष्ठानों में भाव-गत ऐक्य स्पष्ट ही दृष्टिगत होता है। वैदिक यज्ञ का उद्देश्य है कि उसके द्वारा ऐसी शक्ति प्राप्त हो, जिससे देवता वश में होकर वांछित फल प्रदान करें। तान्त्रिक क्रिया-क्रर्मों का भी अन्यतम लक्ष्य यही है।

वेद-संहिता में कथित धर्म-साधना का लक्ष्य है ऐहिक सुख-समृद्धि अर्थात् मुक्ति। तन्त्रोक्त धर्म-साधना का भी लक्ष्य यहो है। वेदान्तांश में धर्म-साधना का लक्ष्य है ब्रह्मोपलब्धि और तान्त्रिक साधना का भी चरम लक्ष्य ब्रह्मोपलब्धि ही है।

इस प्रकार वेद और तन्त्र का लक्ष्य समान ही है। वास्तव में वेद में प्रवाहित धर्म-स्रोत ही कालान्तर में तन्त्र की नूतन धारा के रूप में प्रवाहित हुआ है। वेद और तन्त्र में कोई मौलिक विरोध नहीं है। दोनों को मिलाकर हो सनातन-धर्मी शास्त्र का पूर्ण रूप ज्ञात होता है।

महाभागवत में इसी तथ्य को दूसरे रूप में बताया गया है। देवी शिव से कहती हैं कि 'हे शङ्कर! आगम और वेद मेरे दो बाहु हैं। मैं इन दो भुजाओं द्वारा स्थावर-जङ्गमात्मक समस्त जगत् को धारण करती हूँ। जो मूर्ख व्यक्ति मोह-वश इन दोनों का उल्लंघन करता है, वह मेरे इन दोनों हाथों से भ्रष्ट होकर अध: पतित होता है। वेद और तन्त्र दोनों ही श्रेय के हेतु हैं। बुद्धिमान लोग इन दोनों के ऐक्य की विवेचना कर धर्माचरण करते हैं। मोह-ग्रस्त होकर कभी इनके सम्बन्ध में भेद न करें'--

आगमश्चैव वेदश्च द्वौ बाहू मम शङ्कर।
ताभ्यामेव धृतं सर्वं जगत् स्थावर-जङ्गमम्॥
यस्त्वेतौ लङ्घयेन्मोहात् कदाचिदपि मूढ़-धी:।
सोऽध:पतित हस्ताभ्यां गलितो नात्र संशय:॥
द्वावेव श्रेयसां हेतु दुरूहावति-दुर्घटौ।
सुधीभिरपि दुर्ज्ञेयौ पारावार-विवर्जितौ॥
विविच्य चानयोरैक्यं मतिमान् धर्ममाचरेत्।
कदाचिदपि मोहेन भेदयेन्न विचक्षणः।

—महा-भागवत,

भेद न होते हुये भी तन्त्रशास्त्र को कलियुगोपयोगी शास्त्र समझ कर स्वोकार करने का यह शास्त्रीय निर्देश है कि कलियुग में तान्त्रिक कृत्य ही प्रशस्त हैं, वैदिक कृत्य वर्जनीय हैं--

प्रशस्यं तान्त्रिकं कृत्यं वैदिकं वर्जयेत् कलौ।

—गा० त०, प० ४

कलियुग में प्रशस्त तन्त्र-मत

रुद्रयामल के मत से सत्ययुग में श्रुति-प्रोक्त मार्ग, त्रेता-युग में स्मृति-निर्दिष्ट मार्ग, द्वापर में पुराणोक्त मार्ग और कलि में आगमोक्त मार्ग विहित है–

कृते श्रुत्युक्त-मार्ग: स्यात् त्रेतायां स्मृति-भाषितः।
द्वापरे वै पुराणोक्तः कलावागम-सम्भवः॥

कुब्जिका तन्त्र और पुरश्चरण-रसोल्लास तन्त्रादि में भी ऐसा ही अभिमत प्रकट किया गया है। यथा--

श्रुति-स्मृति-विधानेन पूजा कार्या युग-त्रये।
आगमोक्त-विधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधी॥
न हि देवा: प्रसीदन्ति कलौ चान्य-विधानत:।

—कुब्जिका तन्त्र (प्रा० तो०, काण्ड १, परि० १)

तन्त्रोक्तं ध्यान-मन्त्र च प्रशस्तं भारते कलौ।
वेदोक्तं चैव स्मृत्युक्तं पुराणोक्तं वरानने।
न शस्तं चञ्चलापाङ्गि कदाचिद् भारते कलौ॥

—पुरश्चरण-रसोल्लास तन्त्र

कलियुग में तन्त्रोक्त धर्म-मार्ग क्यों प्रशस्त है, इसकी एक व्याख्या महा-निर्वाण में मिलती है। भगवती आद्या सदाशिव से कहती हैं कि 'हे सब प्राणियों के स्वामी, सब धर्मों के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ भगवन्! प्राचीन काल में आपने कृपाकर ब्रह्मा के अन्तर्यामी रूप में सब धर्मों के वृद्धिकारक चारों वेदों का प्रकाश किया था। इस चतुर्वेद में वर्णाश्रमादि नियम प्रतिष्ठित हैं। सत्ययुग के पुण्यशील मनुष्य वेदोक्त याग-यज्ञादि कर्मों से देवताओं और पितृ-गण को प्रसन्न करते रहे। स्वाध्याय, ध्यान, तपस्या, दया और दान के अभ्यास से जितेन्द्रिय होकर वे महाबली, वीर्यवान् तथा अति पराक्रमी होते थे। वे स्वर्ग-गामी, देवता-तुल्य और दृढ़-व्रतो होते थे। सब ही लोग सत्य-धर्म-परायण, सत्यवादी, साधु होते थे'—

भगवन्! सर्व-भूतेश सर्व-धर्म-विदां वरः।
कृपावता भगवता ब्रह्मान्तर्यामिना पुरा॥
प्रकाशिताश्चतुर्वेदाः सर्व-धर्मोपबृंहिताः।
वर्णाश्रमादि-नियमा यत्र चैव प्रतिष्ठिताः॥
तदुक्त याग-यज्ञाद्यैः कर्मभिर्भुवि मानवाः।
देवान् पितॄन् प्रीणयन्तः पुण्य-शीलाः कृते युगे॥
स्वाध्याय-ध्यान-तपसा दया-दानैर्जितेन्द्रियाः।
महा-बला महा-वीर्या महा-सत्व-पराक्रमाः॥
देवायतनगा मर्त्या देव-कल्पा दृढ़-व्रताः।
सत्य-धर्म-पराः सर्वे साधवः सत्य-वादिनः॥
—महानिर्वाण तन्त्र, १।३०-३४

इस प्रकार सत्ययुग के मनुष्यों की वेद-परायणता और धर्म-परायणता का वर्णन कर देवी ने कहा कि 'सत्ययुग के व्यतीत होने पर त्रेता-युग में धर्म का व्यतिक्रम देखकर कि लोग वेदोक्त कर्म द्वारा अपने इष्ट-साधना को करने में समर्थ नहीं हैं; अनेक चिन्ताओं से व्याकुल-चित्त लोगों में बहु-क्लेशवाले और अनेक साधनों की आवश्यकतावाले वैदिक कर्म करने की योग्यता नहीं है; न वे वैदिक कर्म कर सकते हैं, न उन्हें छोड़ सकते हैं, सदा कातर-बुद्धि रहते हैं; आपने तब वेदार्थ-युक्त स्मृति-शास्त्र को पृथ्वी पर प्रकट कर तप और स्वाध्याय में दुर्बल लोगों की दुःख-शोक-रोग-दायक पाप से रक्षा की। घोर-संसार-सागर से जीवों को रक्षा करनेवाला आपके सिवा कौन कल्याणकारी प्रभु है?'—

कृते व्यतीते त्रेतायां दृष्ट्वा धर्म-व्यतिक्रमम्।
वेदोक्त-कर्मभिर्मर्त्या न शक्ताः स्वेष्ट-साधने॥
बहु-क्लेश-करं कर्म वैदिकं भूरि-साधनम्।
कर्तुं न योग्या मनुजाश्चिन्ता-व्याकुल-मानसाः॥
त्यक्तुं कर्तुं न चार्हन्ति सदा कातर-चेतसः।
वेदार्थ-युक्त-शास्त्राणि स्मृति-रूपाणि भू-तले॥
तदा त्वं प्रकटीकृत्य तपः-स्वाध्याय-दुर्बलान्।
लोकानतारयः पापात् दुःख-शोकामय-प्रदात्॥
त्वां विना कोऽस्ति जीवानां घोर-संसार-सागरे।
भर्ता पाता समुद्धर्ता पितृ-वत् प्रिय-कृत् प्रभुः॥
—महानिर्वाण तन्त्र, १।३०, ३४

इसके बाद द्वापर-युग के सम्बन्ध में देवी ने कहा कि 'द्वापर-युग के आने पर आधि-व्याधियों से व्याकुल मनुष्य स्मृतियों में कथित कर्म भी करने में असमर्थ हो गये और धर्म का आधा लोप हो गया, तब आपने संहिता का उपदेश कर मनुष्यों का उद्धार किया'—

ततोऽपि द्वापरे प्राप्ते स्मृत्युक्त-सुकृतोज्झिते।
धर्मार्ध-लोपे मनुजे आधि-व्याधि-समाकुले॥
संहिताद्युपदेशेन त्वयैवोद्धारिता नराः।
—१।३५

तदनन्तर कलियुग के सम्बन्ध में देवो ने कहा कि 'सर्व-धर्म-विलोप-कारी, दुराचार-दुष्प्रपञ्च और दुष्ट-कर्म-प्रवर्तक पापी कलि के आगमन पर वेदों का प्रभाव चला जायगा, स्मृतियाँ भुला दी जाएँगी, विविध मार्ग-दर्शक बहु-संख्यक पुराणों का भी नाश हो जायगा और लोग धर्म-कर्म-विमुख, उच्छृङ्खल, मदोन्मत्त तथा सदा पाप-कर्म में लगे रहनेवाले हो जायँगे।

आयाते पापिनि कलौ सर्व-धर्म-विलोपिनि।
दुराचारे दुष्प्रपञ्चे दुष्ट-कर्म-प्रवर्तके॥

न वेदाः प्रभवस्तत्र स्मृतीनां स्मरणं कुतः ।
नानेतिहास-युक्तानां नाना-मार्ग-प्रदर्शिनाम् ।।
बहुलानां पुराणानां विनाशो भविता विभो ।
तदा लोका भविष्यन्ति धर्म-कर्म-बहिर्मुखाः ।।

कलियुग के मनुष्यों के उद्धार के लिए शिव ने आगम और निगम का प्रवर्तन किया था किन्तु देवी ने आशङ्का की कि कलि के असंयमी लोग उसका भी अनुसरण नहीं कर पाएँगे । उन्होंने शिव से कहा कि 'हे प्रभु ! मनुष्यों के हित के लिये आपने इन सब कर्मों का विधान किया है किन्तु ये उनके लिये अहितकर ही मुझे प्रतीत होते हैं क्योंकि कौन योग करेगा, कौन न्यासों को करेगा और कौन स्तोत्र-पाठ, यन्त्राङ्कन तथा पुरश्चरण करेगा ! कलियुग में युगधर्म के प्रभाव से मनुष्य सब प्रकार से पापकारी ही होंगे'—

हिताय यानि कर्माणि कथितानि त्वया प्रभो ।
मन्ये तानि महादेव विपरीतानि मानवे ।।
के वा योगं करिष्यन्ति न्यास-जालानि केऽपि वा
स्तोत्र-पाठं यन्त्र-लिपिं पुरश्चर्यां जगत्पते ।।
युग-धर्म-प्रभावेन स्वभावेन कलौ नराः ।
भविष्यन्त्यति-दुर्वृत्ताः सर्वथा पाप-कारिणः ।।

इसके उत्तर में सदाशिव ने कहा कि 'कलियुग के दुष्कर्मों से पतित द्विजादि वर्णों की शुद्धि श्रौत कर्मों से नहीं होगी; संहिता-स्मृति आदि द्वारा भी उनकी इष्ट-सिद्धि न हो सकेगी । कलियुग में आगम-मार्ग छोड़कर अन्य कोई उपाय नहीं है, यह मैं सत्य कहता हूँ । मैंने पूर्व-काल में श्रुति-स्मृति-पुराणादि में कहा है कि बुद्धिमान् साधक कलियुग में आगमोक्त विधान से ही देवता का पूजन करें'—

कलि-कल्मष-दीनानां द्विजादीनां सुरेश्वरि ।
मेध्यामेध्याविचाराणां न शुद्धिः श्रौत-कर्मणा ।।
न संहिताद्यैः स्मृतिभिरिष्ट-सिद्धिर्नृणां भवेत् ।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यं सत्यं मयोच्यते ।।
विना ह्यागम-मार्गेण कलौ नास्ति गतिः प्रिये ।
श्रुति-स्मृति-पुराणादौ मयैवोक्तं पुरा शिवे ।।
आगमोक्त-विधानेन कलौ देवान् यजेत् सुधीः ।
— महानिर्वाण तन्त्र, २।५-८

सत्य, त्रेतादि युगों के सम्बन्ध में महानिर्वाण तन्त्र के उक्त विवरण के समान ही पुराणादि में भी उल्लेख मिलता है । इससे स्पष्ट है कि कलियुग के पतनोन्मुख लोगों के उद्धार के लिये, उनकी निराशा को दूर करने के लिये तन्त्रोक्त विधान का प्रतिपादन किया गया है । महानिर्वाण तन्त्र में ही यह भी कहा है कि 'बहु-दोष-युक्त कलियुग में एक महान् गुण भी है । वह यह है कि इस युग में कौलों के सङ्कल्प मात्र से कल्याण होगा ।'—

कलेर्दोष-समूहस्य महानेको गुणः प्रिये ।
सत्य-प्रतिज्ञ-कौलानां श्रेयः सङ्कल्प-मात्रतः ।।
—महानिर्वाण तन्त्र, ४।६८

पुराणों में भी कलियुग की इस विशेषता का उल्लेख हुआ है । यथा—

नानुद्वेष्टि कलिं सम्राट् सारङ्ग इव सार-भुक् ।
कुशलान्याशु सिद्धयन्ति नेतराणि कृतानि यत् ।
—श्रीमद्भागवत, १।१८।७

अर्थात् सार-भुक् भ्रमर के समान सम्राट् कलि से द्वेष न करो क्योंकि कलियुग में सङ्कल्प द्वारा आशु पुण्य लाभ होता है ।

तन्त्र—वेदों के सार

परशुराम कल्पसूत्र में लिखा है कि 'भगवान परम शिव भट्टारक ने ही अष्टादश विद्याओं, समस्त दर्शनों का प्रणयन किया है और स्वात्माभिन्न सम्विन्मयी भगवती भैरवी के प्रश्न के उत्तर में वेदों के सारभूत पञ्चाम्नायों अर्थात् तन्त्रशास्त्र की रचना की '—

भगवान् परम-शिव-भट्टारकः श्रुत्याद्यष्ट-विद्याः, सर्वाणि दर्शनानि लीलया तत्तदवस्थापन्नः प्रणीय सम्विन्मय्या भगवत्या भैरव्या स्वात्माभिन्नया पृष्टः पञ्चभिः मुखैः पञ्चाम्नायान् परमार्थ-सारभूतान् प्रणिनाय ।

—परशुराम कल्पसूत्र, १।२

करुणामयी जगज्जननी भगवती के प्रश्न एवं करुणामय परम शिव के उत्तर दोनों का उद्देश्य है जीवों के लिये कल्याण का मार्ग निर्दिष्ट करना। विशेष कर उन लोगों के लिये, जो वेदार्थ को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हैं या जिन्हें वेद में अधिकार प्राप्त नहीं है, उनके प्रति कृपाकर परम शिव ने उनकी मुक्ति के लिये वेद के सारभूत तन्त्रशास्त्र की रचना की है—

निखिल-वेदार्थानभिज्ञानां तन्त्रानधिकारिणां च।
मुक्त्युपायं निखिल-वेद-साराम्नाय-विद्यां प्रणिनाय॥
—प० क० सू०, १।२ की वामकेश्वर-वृत्ति

तन्त्र की अवतारणा

महानिर्वाण तन्त्र, परशुराम कल्पसूत्र आदि में दिए विवरणों से ज्ञात होता है कि शिव-शक्ति के प्रश्नोत्तर के माध्यम से तन्त्र की अवतारणा हुई है। स्वच्छन्द तन्त्र में स्पष्ट कहा है कि स्वयं सदाशिव ने गुरु-शिष्य-पद में अवस्थित होकर प्रश्नोत्तर-रूप से तन्त्रों का आविर्भाव किया है—

गुरु-शिष्य-पदे स्थित्वा स्वयमेव सदाशिवः।
प्रश्नोत्तर-परैर्वाक्यैस्तन्त्रं समवतारयेत्॥

इस तन्त्रोक्ति से एक वास्तविक सत्य का उद्घाटन होता है। वह यह कि तन्त्रशास्त्र और तान्त्रिक साधना गुरु-शिष्य-परम्परा पर आधारित है। वामकेश्वर तन्त्र में भी लिखा है कि 'एक कान से दूसरे कान में उपदेश के क्रम से तन्त्र पृथ्वी-तल पर प्राप्त हुआ है'—कर्णात्कर्णोपदेशेन सम्प्राप्तमवनीतलम्—६।३।

इन सब तन्त्र-वचनों का यही तात्पर्य है कि तन्त्रशास्त्र को गुरु-मुख से समझना चाहिए। तन्त्रशास्त्र साधना-शास्त्र है और पुस्तक पढ़कर तान्त्रिक साधना नहीं की जा सकती। रामेश्वर ने लिखा है कि 'विद्वान् व्यक्ति पुस्तकादि पढ़कर तन्त्रशास्त्र-सम्बन्धी ज्ञान से सम्पन्न होकर भी कृतार्थ नहीं हो सकते। एकमात्र गुरूपदेश से ही तन्त्र में कृतार्थता हो सकती है'—

विद्वान् समर्थोऽपि पुस्तक-वाचनादिना सम्पन्नज्ञानो न कृतार्थो भवितुमर्हति, किं तु गुरूपदिष्टमार्गेणेवेति।—प० क० सू० १।२ की वृत्ति।

तन्त्र-शास्त्र के अधिकारी

गुरु-मुख से ही तन्त्रशास्त्र के अवगत करने की विधि का जो निर्देश है, उसका एक विशेष तात्पर्य है। यह ध्यान में आता ही है कि तन्त्रशास्त्रोक्त साधना सभी जाति-वर्ण के लोगों के लिए विहित है किन्तु शास्त्रज्ञ गुरु हर किसी को शिष्य नहीं बनाते। जो शास्त्र के अनुसार योग्य होता है, उसी को शिष्य बनाते हैं और शिष्य ही गुरु-मुख से तन्त्रशास्त्र को समझ पाता है। इस प्रकार तन्त्रशास्त्र का द्वार सभी जाति-वर्ण के स्त्री-पुरुषों के लिए समान भाव से उन्मुक्त होने पर भी हर कोई व्यक्ति इस शास्त्र का अधिकारी नहीं होता।

गुरु से दीक्षा प्राप्त कर लेने से ही तन्त्रशास्त्र में अधिकार प्राप्त हो जाता हो, ऐसा भी नहीं है। वामकेश्वर तन्त्र में लिखा है कि 'पर-शिष्य, नास्तिक, गुरु-सेवा में आलसी और अनर्थ-प्रदाता व्यक्ति को तन्त्र का उपदेश न करे'—

न देयं पर-शिष्येभ्यो नास्तिकानां न चेश्वरि।
न शुश्रूषालसानां च नैवानर्थ-प्रदायिनाम्॥

यह निर्देश निषेधात्मक है। विधिपरक निर्देश भी इस सम्बन्ध में यह मिलता है कि 'जो उत्तम व्यक्ति संसार-सागर से पार होने की इच्छा करे, जो न तो अत्यन्त तत्त्वज्ञ हो और न ही मूर्ख हो, वही इस तन्त्रशास्त्र के जानने का अधिकारी है—
संसार-सागराम्बु-निधि यः स्यात्तितीर्षुःकश्चिदुत्तमः।
नात्यन्त-तज्ज्ञो न मूर्खः सोऽस्मिन् शास्त्रेऽधिकारवान्॥

गन्धर्व तन्त्र (२।१६-१७) में लिखा है कि जो आस्तिक, शुचि, दान्त, द्वैत-हीन, जितेन्द्रिय, ब्रह्म-निष्ठ, ब्रह्मवादी, ब्रह्मी, ब्रह्म-परायण, सर्व-हिंसा-

विनिर्मुक्त, समस्त प्राणियों के हित में तत्पर है, वही इस शास्त्र का अधिकारी है।

तन्त्र साधना-शास्त्र

तन्त्र वस्तुतः साधना का शास्त्र है। यह अद्वैत-साधना का शास्त्र है। अद्वैत तत्त्व या ब्रह्म को दो भावों से हृदयङ्गम किया जा सकता है। एक तो स्वरूप-लक्षण के द्वारा और दूसरे तटस्थ-लक्षण के द्वारा। स्वरूप-लक्षण द्वारा ब्रह्म को एकमात्र उच्च श्रेणी के योगी ही जान सकते हैं और तटस्थ-लक्षण द्वारा अन्य लोग। मुख्यतः इन्हीं लोगों के लिये साधना-शास्त्र है। महानिर्वाण तन्त्र (३।१०) में कहा है कि 'स्वरूप लक्षण द्वारा जो ज्ञेय है, वही तटस्थ-लक्षण द्वारा ज्ञेय है। तटस्थ लक्षण द्वारा जो ब्रह्म की प्राप्ति के अभिलाषी हैं, उन्हीं के लिये साधना विहित है'—

स्वरूप-बुद्धचा यद्-वेद्यं तदेव लक्षणैः शिवे।
लक्षणैराप्त्वमिच्छनां विहितं तत्र साधनम्॥

उच्च श्रेणी के तन्त्र इसी साधना के शास्त्र हैं।

तन्त्रशास्त्र पारमार्थिक शास्त्र है। तर्क-शास्त्र के समान यह लौकिक बुद्धि-गम्य विचार-शास्त्र नहीं है। अर्थात् लौकिक बुद्धि से इस शास्त्र में विचार-विमर्श नहीं चलता। इसी से तन्त्र में बारम्बार यह कहा गया है कि यह शास्त्र गुरु-गम्य है। सद्-गुरु के उपदेश के बिना इस शास्त्र के किसी गम्भीर तत्व को कोई ठीक से समझ नहीं सकता।

सामान्यतः तन्त्र के दो पक्ष हैं—एक सिद्धान्त का और दूसरा साधना का। मुख्यतः साधना को ही महत्व दिया गया है। 'तन्त्र' कहने से साधारणतया इसी पक्ष को समझा जाता है। इसी से तन्त्र को साधनाशास्त्र कहते हैं। अनेक तन्त्र-ग्रन्थों में सिद्धान्तविषय की कोई चर्चा नहीं मिलती, केवल साधना के विषय का ही वर्णन मिलता है।

वैज्ञानिक युगोपयोगी शास्त्र

प्रत्यक्ष फलदायक होने से तन्त्र वैज्ञानिक युग के लिये उपयोगी शास्त्र है क्योंकि वैज्ञानिक विचार-धारा वाले व्यक्ति जिस विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं पाते, उसमें विश्वास नहीं करते। जिस प्रकार आज के लोग पदार्थ-विज्ञान, जीव-विज्ञान, मनोविज्ञान आदि विषयों का अध्ययन कर सकते हैं, उसी प्रकार संस्कार-मुक्त मन और दृढ़ सङ्कल्प लेकर वे स्वयं सत्य को प्रत्यक्ष करने के लिये परीक्षा कर तन्त्र के विषयों का निरीक्षण कर सकते हैं। तन्त्रशास्त्र मन्त्र-शक्ति का प्रत्यक्ष प्रमाण देता है, यन्त्र कितना शक्तिशाली होता है और देवता तथा उच्च शक्तियों के समूह का अस्तित्व कहाँ तक सत्य है, इसका भी प्रत्यक्ष प्रमाण देता है। जिस-जिस परिमाण में जो सिद्धि चाहिये, वह प्राप्त की जा सकती है और साधक साधना द्वारा क्रमशः उच्च से उच्चतर स्तर को पहुँचता हुआ अन्त में परमानन्द-स्वरूप को प्राप्त करता है। कोई भी अधिकारी व्यक्ति तन्त्रशास्त्र का अनुसरण कर इन सबका प्रत्यक्ष प्रमाण प्राप्त कर सकता है।

अतः तन्त्रशास्त्र को साधन-विज्ञान कहना यथार्थ ही है। जिस प्रकार विज्ञान में अनेक प्रकार के सूत्र, सङ्केत, जटिल यन्त्रादि साधनों का विवरण मिलता है, उसी प्रकार तन्त्र में भी मन्त्र, यन्त्रादि देशकालोपयोगी विविध साधनोपायों का वर्णन उपलब्ध होता है। अनधिकारी व्यक्ति के लिये दोनों ही प्रकार के साधनोपाय अर्थ-हीन हैं। अवैज्ञानिक व्यक्ति के लिये जिस प्रकार **Fdx** या **4 Gm/ac** अर्थ-हीन हैं उसी प्रकार अतान्त्रिक के लिये 'ह्रीं' या 'क्लीं' का कोई अर्थ नहीं है। किन्तु अधिकारी व्यक्ति के लिये ये सब सार्थक हैं। जिस प्रकार विज्ञान अनधिकारी के लिए समझ से बाहर है, उस प्रकार तन्त्र भी अनधिकारियों के लिये दुर्बोध है।

जिस प्रकार विज्ञान के द्वार सभी के लिये खुले हैं, उसी प्रकार तन्त्र के भी द्वार सबके लिये उन्मुक्त हैं। जिसका जैसा अधिकार है, वह उसी के अनुसार तन्त्र-निर्दिष्ट पद्धति से साधना कर वैसी सिद्धि पा सकता है। अद्वय ब्रह्म-सिद्धि या सच्चिदानन्द-स्वरूपोलब्धि से लेकर रोग-प्रशमन, शत्रु-दमन तक सब प्रकार की सिद्धियों की व्यवस्था तन्त्रशास्त्र में है। केवल मोक्ष ही नहीं, धर्मार्थ-काम-मोक्ष इस चतुर्वर्ग के लाभ का उपाय इसमें वर्णित है। निस्सन्देह 'तन्त्र' इस जगत् के लिये 'कल्पतरु'-समान है।

सर्वाधिकार सुरक्षित

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान

कल्याण मन्दिर प्रकाशन

अलोपीबाग मार्ग, प्रयाग--६